प्रस्तावना

महात्मा शिवव्रतलाल जी वर्मन का विद्वत्तापूर्ण लेख जैनियों के दशलक्षण धर्म पर पढ़ कर मेरा अंतःकरण उक्त निष्पक्ष विद्वान् को कोटिशः धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता है। जिन्होंने अजैन होते हुए भी इस तरह इस निबन्ध को सफलित किया है, जिससे पढ़ने वाले को इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि आपकी गाढ़ भक्ति व निष्ठा जैन सिद्धान्त पर है तथा आप जैनाचार्यों के वाक्यों का बड़े हार्दिक प्रेम से मनन करते हैं आप के इस निबन्धसे उन अजैन भाइयों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये जो जैनमत को निरादर की दृष्टि से देखते तथा कभी २ अपशब्दों का भी प्रयोग कर बैठते हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि ज्ञानजिज्ञासु जैन मत के तत्त्वज्ञानरूपी अमृत का स्वाद लेंगे तो उनकी आत्मा को बहुत संतोष होगा और उन्हें सच्चे सुख का स्रोत अपने पास ही दिख जायगा।

वास्तव में यह जैनदर्शन वस्तु-स्वरूप को दिखाने वाला है। जगत् में यदि केवल जीव ही होता तो भी संसार सम्बन्धी आकुलतायें न होतीं और यदि अजीव ही अजीव होता तो भी कोई संकल्प विकल्प या दुःख सुख के अनुभव के भाव

नहीं होते। इस लिये यह संसार जीव और अजीव का गठ-जोड़ा है। इन दोनों का बन्धन ही संसार है, इन ही दोनों का वियोग मुक्ति है। जब तक यह जीव अजीव पर आसक्त बना रहता है व उसकी मनोहरता पर लुभाया रहता है, तब तक इसको मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता है। जब यह जीव अपने भीतर भरे हुए ऐश्वर्य को या ईश्वरपनको या अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य की शुद्धि शक्तियों को पहचानता है और उन पर विश्वास लाता है तब इस के भाव में अजीव की चंचल अवस्थायें हेय भासती हैं व चंचल अजीव के प्रसङ्ग से होनेवाला क्षणिक सुख मात्र काल्पनिक और असंतोषकारी तथा आकुलतावर्द्धक झलकने लगता है।

यही जैनियों के रत्नत्रयमयी मोक्षमार्ग का पहला सम्यग्दर्शन रूपी रत्न है-इस रत्न के साथ जितना जीव व अजीव पदार्थों का विशेष ज्ञान प्राप्त करता जाता है वह सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न है। इस श्रद्धा व ज्ञान सहित जहां अशांति के मेटने को व शांति के पाने का आचरण है वही सम्यक्चारित्र रूपी रत्न है-यही अभ्यास अजीव की संगति से जीव को हटाता हुआ एक दिन अजीव से छुड़ा कर उसे मात्र एक केवल जीव या अर्हंत या तीर्थंकर या परमात्मा रूप रहने देता है-जब वह शुद्ध जीव अनन्तकाल तक निजानन्द का विलास करता हुआ परम कृतकृत्य व सर्वज्ञ रूप बना रहता है। इसी

ध्येय का रत्नत्रय मार्ग है। निश्चय नय से यह मार्ग शुद्ध आत्म ध्यान या स्वानुभव है, जहां निज जीवत्व का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व चर्या तीनों का अमित मिलाप है-वास्तव में यही वह अग्नि है जो अजीव को जलाती है उसे भस्म करके जीव को छुडाती है, यही वह मसाला है जो जीव को पवित्र करता है, यही वह अमृत है जिस का पान जीव को अतीन्द्रिय सुख अनुभव कराता है, यही वास्तव अहिंसक भाव है यही समता भाव है, जहां किसी पर राग है न द्वेष है, यही विश्व प्रेम है यही जागृत अवस्था है। साधु का सर्व देश गृहस्थ का एक देश व्यवहार चरित्र भी इसी ध्येय पर आलम्बित है।

उत्तम क्षमादि दश धर्म का सम्यक् आचरण साधु महात्मा करते हैं तथा जो ऐसा आचरण करते हैं वे ही साधु हैं. इस जीव के वैरी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं—ये ही आत्मा के गुणों के घातक हैं। साधु अनेक प्रकार शत्रुओं से कष्ट दिये जाने पर भी क्रोध का विकार नहीं लाते अर्थात् उत्तम क्षमा की भूमि में बैठे हुए परम सहनशील रहते हैं। यदि किसी प्रमत्त साधु के भावों में किंचित् क्रोध विकार आजावे तो भी वह पानी में लकीर की तरह तुरन्त मिट जाता है. साधु के वचन व काय की प्रवृत्ति क्रोध रूप नहीं होने पाती है। इसी तरह अपमान के होने पर भी व अनेक गुणसम्पन्न होने पर भी मान विकार को जलाकर उत्तम मार्दव पालते हैं। शरीर को भोजन पान के अभाव में अनेक कष्ट पड़ने पर भी मायाचार से शरीरक्षमार्ग

को उल्लंघन कर भोजन पान नहीं चाहते हुए उत्तम आर्जवका वर्ताव करते हैं। न कभी कोई असत्यभाव विचारते न कहते सत्य पर डटे रहते-यदि कोई प्राणों को भी लेवे तो भी सत्य को नहीं छोड़ते यही उनका उत्तम सत्य-धर्म है। साधु इन्द्रिय विजयी होते हुए क्षणिक पदार्थों का लोभ न करते हुए उत्तम शौच धर्मों को पालते हुए परमपवित्र रहते हैं। जिनका आत्मा पवित्र है उनके लिये स्नानादि की ज़रूरत नहीं। उनको आत्म-ध्यान से शरीर निरोगी व पवित्र हो जाता है। मन व इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार रखते हुए साधु इन्द्रिय संयम तथा विचार के साथ वर्तते हुए व पृथ्वी आदि षट्काय के जीवों के प्राणों की रक्षा करते हुए उत्तम संयम पालते हैं। धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान की अग्नि जला कर अपने जीव को तपाते हैं, कर्मादिन हटाते हैं-इच्छानिरोध के अर्थ अनशन, ऊनोदर रस त्यागादि तप करते हैं। यही उत्तम तप है। परमो-पकारी साधु अपना सर्वस्व सर्व जीवों के हितार्थ जानते हुए जीवमात्र के रक्षक होते हुए अभयदान देते व सप्ततत्वों का ज्ञान देते परम दान पान करते हुए उत्तम त्यागधर्म के अधि-कारी हैं—मैं हूं सो हूं—मेरा अजीव से व अजीवकृत विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं—मैं ममत्व निःपरि-ग्रही परमनिर्ग्रन्थ हूँ यही भाव उत्तम आकिंचिन् धर्म है। वे आत्म ज्ञानी साधु निज ब्रह्म स्वरूप आत्मा में चर्या करते हुए आत्मा-नन्द के विरोधी कुशील जनित विकार को पूर्ण पने त्यागते

हुए उत्तम ब्रह्मचर्य को पालते हैं-साधु जन इस दशलक्षण धर्म के आदर्श है —

गृहस्थ जैसे पूर्ण अहिंसा न पाल कर शक्ति के अनुसार उसे पालते, निरर्थक हिंसा से बचते-प्रयोजन भूत हिंसा के बिना निर्वाह नहीं कर पाते वैसे वे उत्तम प्रकार से इन १० धर्मों को पूर्ण पालने की शक्ति न रखते हुए इन के महत्व का ज्ञान तथा श्रद्धान यथार्थ रखते हैं परन्तु व्यवहारसे यथाशक्य इनका आचरण करते हैं।

जैसे निर्बल अशक्य पागल पर क्रोध नहीं करते परन्तु दुष्ट बदमाश पर उनकी दुष्टता छुड़ानेके हेतु क्रोध करते व दण्ड देते हैं जब आधीन हो जाता है तो उसके साथ क्षमा व प्रेम से बर्ताव करते हैं, यों तो मान नहीं करते परन्तु यदि कोई दुष्ट आचार्यके,साथ अपमान करे तो मान सम्मान के रक्षार्थ उस को स्वाधीन करते, यों तो माया नहीं करते परन्तु किसी शुभ संपादनार्थ व अशुभके निवारणार्थ मायाचार से भी काम लेते, यों तो असत्य नहीं बोलते परन्तु किसी पर होते हुये घात व अत्याचार व अन्याय के दमनार्थ यदि कुछ असत्य से भी काम लेना पड़े तो लेते, यों तो मन वचन काय से पवित्र रहते परन्तु गृहारम्भ सम्बन्धी लोभ करते हुये व गृह प्रपञ्च में उलझते हुए अपवित्र हो जाते, यों तो संयम का आदर करते परन्तु शक्ति न होने पर न्यायपूर्वक इन्द्रियभोग करते व आरम्भ करते,

यों तो तप करना श्रेष्ठ जानते पर शक्ति के अभाव से स्वल्पतप करते, पूर्ण इच्छा को वश नहीं कर सकते, यों तो ममत्व किसी मे नहीं रखते तथापि गृहपालन का प्रबन्ध रख कर धनादि से परिमित लोग त्याग करके परिमित दान देते-सर्व-त्यागी नहीं हो सकते, यों तो सिवाय सजीवत्व के किसी को भी अपना नही समझते तथापि गृहस्थ में चेतन अचेतन पदार्थों को आवश्यक्तानुसार रखतेऔर उनके ममत्व वताने, यों तो ब्रह्मचर्य को ही उपादेय जानते परन्तु वीर्य की कमी से पूर्ण शील न पालते हुए विवाहिता स्त्री से वर्ताव करते। इस तरह गृहस्थ जन इस उत्तम दशलक्षण धर्म के आदर्श को ही उपादेय मानकर जितनी शक्ति कम है, उतना उनको कम दरजे वर्ताव मे लाते तथा जितनी शक्ति बढ़ती जाती है उतना इनका वर्ताव भी बढ़ाते जाते हैं।

इस रीति से इस दशलक्षणधर्म को सर्व मानवसमाज अपनी २ स्थिति के अनुसार पालकर आकुलता, क्षोभ, राग-द्वेष परपीड़ा करण से बच सकता है और सुख शान्ति, वीतरागता, समता तथा अहिंसात्मक भाव से वृद्धि कर सकता है।

वास्तव में आत्मविकास के ये सच्चे साधन है, क्रोधादि चारकषायों के संहार के ये अमोघ शस्त्र हैं। मोक्ष मन्दिर में पहुंचाने के लिये धर्मरूपी गाड़ीके दश पहिये है। सुखामृत पिलाने को अद्भुत व अक्षीण अमृत के घट हैं। महात्मा शिवव्रतलाल ने इन पर बहुत मनन योग्य प्रकाश डाला है। हम उनके प्रति आभारी हैं।

—ब्र० शीतलप्रसाद

जैनधर्म-सिद्धान्त

अर्थात्

धर्म के दश लक्षण

---

[१]

भूमिका
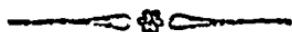
बाबू कामताप्रसाद साहब जैन पत्र द्वारा इच्छुक हुए कि मैं जैन धर्म के दशलक्षण धर्म पर अपने विचार प्रगट करूँ। विचार क्या प्रगट किये जांय ? कोई बात मेरे मत अथवा सिद्धान्त के विरुद्ध होती तो मुझे अवसर था कि मैं जैनधर्म के दशलक्षण धर्म के विषय में पूर्वपक्षी बनता। जैसी मुझे गुरु ने शिक्षा दी है, वही बात मैं धर्म के विषय में जैनमत में भी पाता हूँ। मुझे उसके साथ सहानुभूति है। मैं इस विषय में जैनमत का विरोधी नहीं हूँ, किन्तु उसके साथ मुझे अनुकूलता है।
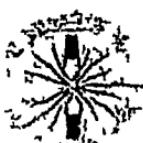
यह विदित हो कि मैं जैनधर्म का अनुयायी नहीं हूँ। मेरा सम्बन्ध राधास्वामी मत से है। बाल अवस्था से एकान्तसेवी होने के कारण मैं जैनियों से—दो एक मनुष्यों को छोड़ कर—किसी से परिचित भी नहीं हूँ, और न इस समुदाय के लोग मुझे जानते हैं। जो दो एक जैनी मेरे मित्र हैं, उनके साथ मुझे परिचय इस कारण से है कि वह राधास्वामी मतके विषय में मुझसे पूछताछ करने आया करते थे। नहीं तो शायद न वह मुझे जानते और न मैं उन्हें जानता।

इस निबन्ध को पढ़कर कोई यह न कहे कि मैं अन्धाधुन्ध बिना समझे बूझे हुए किसी को प्रसन्न करने के लिए लिख रहा हूँ। मैं जो कुछ कहूँगा निष्पक्ष होकर कहूँगा। निष्पक्षता का अङ्ग धार्मिक पुरुष का लक्षण है। परन्तु इससे पहिले कि मैं जैनधर्म के लक्षण अपने विचारों के अनुसार प्रगट करूँ, इस बात के बता देने की आवश्यक्ता है कि जैनधर्म क्या है? मैं जैनधर्म को आप क्या समझता हूं?

[२]

जैन धर्म

'जैन' शब्द संस्कृत धातु 'जिन' (जीतने) से निकलता है, मेरी समझ में इस लिए यह संसार का अति उत्तम और सब से प्राचीन मत है; जिसने मनुष्यमात्र को सूचित किया कि उसके जीवन का उद्देश्य क्या है ? और क्या होना चाहिये ? उसके नामही से साधारण रीति से विदित है कि मनुष्य का कर्तव्य केवल जीतना है-जय प्राप्त करना है और किसी पदार्थ को अपने वशीभूत बनाना है। यहाँ रुक कर सोचना पड़ता है कि किस वस्तुको जीतना है और किस पर विजय पाना है ? वह क्या है और उस पर विजय पाने का उपाय क्या है ? इन्हीं प्रश्नों पर मेरे अपने निज मतानुसार जैनधर्म की नींव पड़ी होगी। यदि ऐसा न होता तो इसका यह नाम कदापि न पड़ता।

विजय प्राप्त करना वीर का काम है। वीर साधारण मनुष्य नहीं होते, किन्तु वह असाधारण होते हैं। और इसी दृष्टि से इन विजय करने वाले वीरों के मुख्य आचार्य वीरों में वीर महामुनि स्वामी महावीर जी हुये हैं। यथा नाम तथा गुण। जैसा नाम था वैसा काम भी था। महावीर जी का दूसरा नाम वर्द्धमान था, यह संस्कृत धातु 'वृद्धि' (बढ़ने) से निकला है

जो बढ़ता हो-जिसे यह कारता प्राप्त हुई हो-जो जीवन के तमाम तीर्थों अथवा मन्ज़िलों को लांघ कर तीर्थङ्कर बना हो, वह वर्द्धमान है। 'मान' शब्द संस्कृत धातु 'मा' (मापने) से निकलता है अर्थात् जिसने वृद्धि की माप तोल करली है और माप तोल करते हुए जिसने उसे अपने आधीन कर लिया है। मेरी समझ में केवल वही पुरुष वर्द्धमान कहा जा सक्ता है। जैन धर्म का चौवीसवां तीर्थङ्कर इस मतके अनुसार तुल्य और अनुपम आचार्य है। इससे पहले तेईस तीर्थङ्कर हुये हैं-मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। प्रयोजन केवल वर्द्धमान महावीर से है। यह महापुरुष निर्ग्रन्थी अथवा निर्ग्रन्थ था। इसकी शिक्षा किसी ग्रन्थ में नहीं लिखी गई थी। किन्तु इसने जन्म-जन्मान्तर की सिद्धियों से जो अवस्था अपने अनुभवसे प्राप्त की, केवल उसी की शिक्षा दी है। एक अर्थ निर्ग्रन्थ होने का यह है। दूसरा अर्थ यह है कि वह ग्रन्थिबद्ध नहीं था। उसने तमाम बन्धनों को तोड़ दिया था। शुद्ध था, मुक्त था और जीते जी उसने निर्वाण (कैवल्य) पद की प्राप्ति करली थी! इसलिये उसकी शिक्षा आप्त ऋषि के शब्द के रूपमें स्वीकृत और प्रमाणिक है। जो मुक्त है, वही मुक्ति दे सक्ता है। जो बद्ध है उससे मुक्ति की आशा रखना भूल और चूक है। पुस्तकों को पढ़कर शिक्षा देना साधारण मनुष्यों का करतब तो हो सक्ता है, परन्तु वह उतनी प्रभावशाली नहीं हो सक्ती! प्रभावशाली विशेषकर अनुभवी पुरुषों ही की शिक्षा

होती है। ग्रन्थिबद्ध पुरुष ग्रन्थों के बन्धन में फँसे हुए उन्हीं के प्रमाणों के खूँटे से बंधे रहते हैं। जब तक वह निर्ग्रन्थ और अनुभवी न हों तब तक संसार उनको जैसा चाहे वैसा माने उसे अख्तयार है। मैं तो केवल ऐसे गुरु का सेवक हूँ जो अनुभवी और सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की झलकती हुई मूर्त्ति हो !

उस कूरयानिशीं का दिला ! मैं मुरीद हूँ
जिसके रवाज़ जुहद में बूये रया न हो।

जैनमत को मैं वीर-मार्ग इसलिये कहता हूँ कि उसके सारे के सारे आचार्य (तीर्थंकर) क्षत्री रहे हैं। क्षत्री-संस्कृत धातु 'क्षद' (जड़) से निकला है। जो सबकी जड़ हो वह क्षत्री है। यह संसार में आदि वर्ण है। और इसका मन्तव्य केवल जीतना और विजय पाना है। ब्राह्मण वर्ण क्षत्रियों के पीछे आया है और इसकी पद्धति की नींव भरत जी ने रक्खी थी। इसलिए यह संसार में दूसरा वर्ण है। मनु पहिला क्षत्री था और मनुष्य मात्र प्राणियों का मूल पुरुष उसीको समझना चाहिये। इस दृष्टि से जैनधर्म आदि धर्म-राजधर्म-क्षत्री धर्म और वीर धर्म है। और इसलिए वह सबमें श्रेष्ठ है। मनु जी ने आप अपनी स्मृति मे कहा है, "क्षात्र धर्म परो धर्म." अर्थात् क्षत्रियों का धर्म ही तमाम धर्मों से ऊँचा है। और यीह सबमें उत्तम है।

क्षत्रियोंका धर्म ज्ञान है, जिसके दो अंग दर्शन और चरित्र हैं। ब्राह्मणों का धर्म कर्म है। ज्ञान अन्तर मुख्यता है-कर्म बहिर मुख्यता है।

लोग मेरी बात को सुनकर आश्चर्य करेंगे, परन्तु यह सच्ची बातें है। विजय ज्ञान से मिलता है। केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता और यह विजय उस समय तक नही मिलता जब तक कि कोई क्षत्री न बने और क्षत्रियों को रीति से उसका संस्कार न किया जाय। क्षत्री सदैव से ज्ञान मत के आचार्य रहे है। ब्राह्मण सदैव से कर्ममत के आचार्य हुये है। ज्ञान का सम्बन्ध क्षत्रियों ही से रहा है। उपनिषदों की परम्परा क्षत्रियों की परम्परा है। इस बातको बादके शंकराचार्य ने भी अपने 'शारीरिक भाष्य' में स्वीकार किया है। और ज्ञान के विषय में कई जगह उपनिषदों में कहा गया है कि यह ब्राह्मणों में कभी नहीं था। और होता कैसे? क्योंकि इसके शिक्षक क्षत्री ही रहे हैं। जो पहले उच्च वर्ण के मनुष्य थे। ब्राह्मणों का वर्ण दूसरा और उनसे नीचा है। जिसका जी चाहे, उपनिषदों को पढ़कर अपना संतोष करले!

[२]

परिभाषाओं में जैन धर्म की जड़

किसकी विजय करना है ? और कौन विजय करने वाला है ? यह दो प्रश्न हैं। महावीर स्वामी ने इनका निर्णय इस सुन्दरताई से किया है कि पक्षपाती और हठधर्मी मनुष्यों के सिवाय दूसरे कभी भी उनके सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए उद्यत नहीं होंगे ! वह कहते हैं यह जगत् जीवाजीव है अर्थात् जीव और अजीव से भरा हुआ है। अजीव विजय किये जाने के पदार्थ हैं और जीव को विजय प्राप्त करना है। यह जैनमत का निचोड़ है ! यही संसार में हो रहा है। जहां मनुष्य की दृष्टि खुली और जो वस्तु उसकी दृष्टिगोचर हुई उसी समय वह उसके पकड़ने और वश में लाने के लिये हाथ फैलाता है। बच्चों में देखो-पशुओं में देखो तमाम जीवधारी जन्तुओं के जीवन में देखो। इस जगत् में हो क्या रहा है ? मनुष्य का छोटा बालक यदि सांप को देखेगा तो उसे हाथ से पकड़ कर अपने मुंहमें रखने का उद्योग करेगा। यही दशा पशुओं की भी है। इस सचाई से कौन इंकार कर सकता है ? अब रही यह बात कि बच्चों का करतव ज्ञान के साथ है या अज्ञान के साथ ! यह दूसरी बात है। यह न हमारा इस समय आशय है और न हम इस पर अधिक अपना भाव प्रगट करने का समय रखते हैं। यह जीव का प्राकृतिक स्वभाव

है, जिसकी सचाई में सन्देह करना केवल मूर्खों का काम होगा।

सांख्यमत का प्रवर्त्तक कपिल आचार्य क्या कहता है? "प्रकृति चाहती है कि पुरुष उस पर विजय पावे।" घर रहने वालों के लिये है, मेज़ व कुर्सी बरतने वालों के लिये ह। इस लिये पुरुष का धर्म है कि वह इनको अपने वशमें लाये। जब तक यह प्रकृति वशमें नहीं आती तब तक सो २ नाच नचाया करती है और जहां पुरुष ने साहस करके इसको दबोच लिया; फिर वह लज्जित हो जाती है और पुरुष को असंग छोड़ देती ह। बिना विजय किये हुये सत्ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। यह प्राकृतिक स्वभाव है। और इस लिये हम जैनमत को प्राकृतिक धर्म (Natural Religion) कहते हैं। पुरुष और प्रकृति और कोई पदार्थ नहीं हैं, वह जीव और अजीव हैं।

सब कुछ कर लिया—पढ़ा लिखा, सोचाविचारा, गौरव, वित्त, प्रतिष्ठा, सम्मान, यश, कीर्ति इत्यादि प्राप्त कर लिये, परंतु प्रकृति वश में नहीं आई! इस लिये श्री महावीर स्वामी ने त्रिरत्न अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की शिक्षा देते हुए इन्द्रियोंके जीतने और मनको वशीभूत करने की युक्ति सुझाई। कबीर जी की बाणी है:—

'गगन दमामा बाजिया पडी निशाने चोट
कायर भागे कुछ नही सूरा भागे खोट'

तीर तुपक से जो लड़े सो तो शूर न होय ;
माया तज भक्ति करे शूर कहावे सोय ॥
कबीर सोता नाम गह मारे पांच गनीम ;
सीस नवाया धनी को सांची बड़ी फहीम ॥

जिस जीवाजीव का पता हमने सांख्यदर्शन की परिभाषा पुरुष और प्रकृति में दिखाया है और जो वशिष्ट सूत्र में कहता है कि सिवाय पुरुष और प्रकृति के खेल के इस जगत् का रचने वाला कोई कल्पित अथवा सत् ईश्वर सिद्ध नहीं होता। "ईश्वराऽसिद्धे।" यही पता हम ब्रह्म शब्द की परिभाषा में देते हैं। ब्रह्म परिभाषा दो शब्दों से बनी हुई है। 'बृह' (बढ़ना) 'मनन' (सोचना) अथवा जड़ और चेतन। चेतन क्या करता है। जड़ पदार्थ पर हाथ मारता है। जैसे पुरुष स्त्री पर हाथ डालते हुए नीचे गिरा देता है और उसे अपने वशीभूत करके आधीन बना लेता है। यहांपर जिसका जी चाहे सोचे विचारे कि यह जगत् ब्रह्ममय है या नहीं है? यह जगत् जीवाजीव है या नहीं है? यह जगत् जड़ चेतनमय है या नहीं है? मैं मानता हूँ कि जैनियों के धर्म में बहुतसी बाहरी कल्पित बातें आगई हैं, परन्तु विचारशील मनुष्यों की दृष्टि में केवल यही प्राचीनतम और प्राकृतिक धर्म ठहरता है। ब्रह्म परिभाषा का अर्थ कोई लाख अगड़म बगड़म और अण्डबण्ड करे उसे स्वतंत्रता है। और वह साहस करके अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं, परन्तु परिभाषा स्पष्ट है। कोष देखो, धातु देखो, शब्द की जड़ को देखो

फिर तुम्हारे जो जीमें आवे कहो और वैसा मानो। इसी प्रकार और कितनी ही परिभाषायें मिलेंगी जो विचारवान मनुष्यों के लिए सोचने का अवसर देंगी कि अर्थ के अनर्थ करने पर भी उनकी जड़ों में जैनमत का सिद्धान्त घुसा हुआ है और घुसा पड़ा है। कोई जैन मंदिर में जाये चाहे न जाये, कोई उन पर आक्षेप करे या न करे—इससे हमारा सम्बन्ध नहीं है। हम जो बात कहते हैं केवल उसी पर विचार करे और वह निन्यानवें ...से सहमत हो जायगा।

[४]

धर्म

धर्म क्या है? यह दो शब्द 'धृ' (धारण करना) और 'म' (मन) से निकला है। मनसे जो पकड़ा जाय, सोचा जाय, विचारा जाय और जिसपर मनुष्य आरूढ़ हो, वह धर्म है।

इस धर्मका आशय क्या है? इसका आशय यह है कि अन्तर और बाह्य जगत् के पदार्थों पर इस धर्म के सहारे विजय प्राप्त की जाय। इन्द्रियां वशमें आवें। मन पर सवारी की जाय। तब जाकर कहीं सच्ची विजय प्राप्त होगी। कबीर सा० फरमाते हैं:—

मनके मते न चालिये, मन के मते अनेक;
जो मन पर असवार हैं, सो साधू कवि एक।
जब लग खटपट में रहे तब लग खटपट होय॥
जब मनकी खटपट मिटे झटपट दर्शन होंय,
दौडत दौडत दौडिया जहा लग मन की दौड।
दौड थके मन थिर भया; वस्तु ठौर की ठौर,

\+ – +

यह मन काग था करता जीवन घात;
अब यह मन हंसा भया, मोती चुन चुन खात

इन दोहों के अन्दर जैनमत का सार भरा पड़ा है, यद्यपि कबीर सा० जैनी नहीं थे और न उस के सिद्धान्त से परिचित

थे। इन दोहों में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र का उपदेश भरा पड़ा हुआ है। दर्शन, ज्ञान और चरित्र के लिए समता की सब से अधिक आवश्यकता है। यदि समता नहीं है तो कुछ भी नहीं है। सम (समता) धा (धारण करना) समाधि है। जब तक कोई मनुष्य समदर्शी, समज्ञानी, और समव्यवहार वाला नहीं, वह क्यों धर्म की डींग मारा करता है और उससे लाभ क्या है? धर्म का तात्पर्य केवल इतना ही है कि समता की प्राप्ति हो। और जैन-धर्म इसीपर ज़ोर देता है।

---

[५]
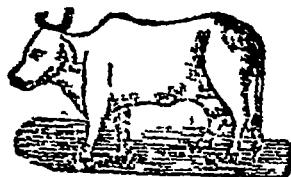
अहिंसा परमोधर्मः ।

जैनमत अहिंसा का मार्ग है। 'हिंसा' कहते हैं दुःखाने को। किसी प्रकार का दुःख देना चाहे वह कायिक हो या मानसिक हो अथवा वाचनिक हो। यह तीन प्रकार का दुःख देना 'हिंसा' कहलाता है। और इन दुःखों से बचकर रहना 'अहिंसा' है। अहिंसा शब्द का अर्थ केवल इतना ही है। कहने के लिये यह एक बात है बसीउल्मुराद, परन्तु सोचने के लिए इतना बड़ा विषय है कि उसमें वह तमाम गुण आ जाते हैं, जो एक पूर्ण मनुष्य में सम्भवित हैं, अथवा उसमें हो सक्ते हैं। यह सबसे बड़ा धर्म है। यदि यह आगया तो फिर कुछ करने धरने की आवश्यकता नहीं रहती। अहिंसा प्रेम है-अहिंसा प्रीति प्यार है-अहिंसा केवल और सच्ची भक्ति है। अहिंसक होना कठिन और दुर्लभ है। अहिंसक न किसी का शत्रु है, न कोई उसका शत्रु है। वह जहां चाहे रहे। प्रेमकी मूर्त्ति बना हुआ सारे जगत् को शोभायमान करता रहेगा और जैसे सूरज से ज्योति की प्रभा की वर्षा होती रहती है, वैसे ही उससे, उसके स्वरूप से, उसकी छाया से और उसकी सांस सांस से दशों दिशाओं में मंगल आनन्द और सुखकी धारें हर समय बिखरती हुई संसार को स्वर्ग सदृश बनाती रहती हैं।

हम हिन्दुओं में संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद की ऋचा हैं, "मित्रस्य चक्षुसा सम्यक्क महे" अर्थात् सबको मित्र की दृष्टि से देखो। ऐसा मित्र बनना संभव है, अथवा असंभव है? सोचने की बात है। यदि असंभव होता तो ऐसी बात न कही गई होती। कहा जाता है, जगत् देव असुर संग्राम है और आधुनिक समय के फिलासफरों इत्यादि का कथन है कि यह जगत् हाथापाई का स्थान है। हिन्दू भी वेदों की वाणी का प्रमाण रखते हुए भी उसे देव असुर संग्राम कहते हैं। इन सबकी दृष्टि में अहिंसक होना असंभव है। परंतु जैनधर्म ने इसको संभवित समझकर अपने धर्म की नींव इसी पर स्थिर की। तीर्थंकरों ने इसे संभवित समझ और अपने जीवन को दिखा कर सिद्ध कर दिया कि मनुष्य अपनी पूर्ण अवस्था और पूर्ण गति में अहिंसक हो सकता है। अहिंसक हुए हुए बिना निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अहिंसा ही न केवल निर्वाणपद की सीढ़ी है, किन्तु वह जीते जी निर्वाण की अवस्था है। निर्वाण क्या है? "फूँक कर बुझा देना।" निर (से) और वाण (फूंकना)। क्या चीज़ फूंकी जाती है? जीव में जो अजीवपना घुस गया है, उस को अलग कर देना, उस से छुटकारा पा जाना—उसको दूर कर देना यह निर्वाण है। निर्वाण का अर्थ केवल इतना ही है। निर्वाण मृत्यु अथवा मर मिटने का नाम नहीं है। यह सच्चा रास्ता है; जिस में जीव जीव हो जाता है और अजीवपने के सारे बन्धन जिन से

वह अब तक बंधा हुआ था सदैव के लिए छूट जाते हैं। न उस में काम है, न क्रोध है, न मोह है, न अहङ्कार है, न उससे किसी को घाव है-न लपट है-न आशा है, न निराशा है-यह निर्वाण है। यह एक ऐसी आनन्ददायक अवस्था है जिसे जैनी परिभाषा मे 'सिद्धपद' बोलते हैं। बहुत कम ऐसे मनुष्य हैं जो इस की समझ रखते हैं। बहुधा तो इसे मिट कर समाप्त हो जाना ही समझ रहे हैं। यह जीव की असली अवस्था, असली रूप और वास्तविक दशा है। जीव का अजीव के साथ अनादिकाल से सम्बध है। उस में अजीव का संग दोष घुस गया है; वह है कुछ, और इन के मेल प्रभाव से कुछ का कुछ करता रहता है, और शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध का पात्र बना हुआ इन्हीं के व्यवहार को सब कुछ समझ बैठा है, अपनी असलियत को खो बैठा और जीव के अजीव मेल का रूप बन गया। यह किस तरह सम्भव है? इस का उत्तर केवल एक शब्द अहिंसा है। इस अहिंसा धर्म का पालन करने से उस में जो जो अजीवपने संस्कार प्रवेश हो गये हैं उन की आप ही जड़ कटती हुई चली जा रही है। रोक थाम होती रहेगी और जब पूर्ण रीति से यह दूर हो जायंगे तब जीव अपने स्वप्रकाश में आप स्वयम् प्रकाशवान् और अपनी पूर्ण अस्ति में आप स्वयं दिव्यमान हो रहेगा। यह निर्वाण है, यह सिद्धपद है, यह पूर्ण जीवन है और इसी का दूसरा नाम तीर्थंकरपणा है।

अहिंसा दया का क़ानून है। इस संसार में जो बेचैनी व्या-

कुलता, घबराहट इत्यादि का आन्दोलन मचा हुआ है, वह केवल हिंसा के कारण है। अहिंसा शान्ति है-हिंसा अशांति है।

बाज़ार से हिंसक चिड़ीमार गुज़रता है, कौए इस के सिर पर मँडलाते हुए कांव कांव करते हैं। कुत्ते उस के पीछे पड़कर भौं भौं भोंकते हैं और जब तक उसे बस्ती के बाहर नहीं निकाल आते, तब तक चैन नहीं लेते। परन्तु जब कभी कोई प्रेममय अहिंसक साधु का गुज़र बस्ती से होता है, शान्ति छा जाती है। कुत्ते उसकी देह से निर्भय हो कर स्पर्श करने लगते हैं। इन पशुओं को यह निश्चय होजाय कि यह प्राणी अहिंसक है, फिर वह उसे कभी दुःख नहीं देंगे। कौन जाने! इनमें कौन कौन सी बुद्धि है जो निश्चय कराती रहती है कि अमुक पुरुष हिंसक है और अमुक पुरुष अहिंसक है। विचार करने से ऐसा विदित होता है कि इन की देह से किसी प्रकार की घृणित धार निकलती होगी जिसे यह देख लेते हैं। और उसी के अनुसार उसका व्यौहार होता है। इस धार का अंग्रेज़ी नाम 'आरा' (Oura) है, जो देहधारियों के चारों ओर मण्डल बांधकर रहता है और वह रोम २ से हर समय निकलता रहता है मनुष्य उसे नहीं देख सकता। वह इतना सूक्ष्म है कि मनुष्य की स्थूल आँखों के साथ सदृश्यता और अनुकूलता नहीं है। परन्तु इन पशुओं की है। मनुष्य के छोटे बच्चे भी इसी प्रकार काम करते हैं। वह भी औरों को देख कर भाँप जाते हैं कि उनसे बातचीत करने वाला अथवा उनके सन्निकट आने वाले पुरुष बा'की कैसे हैं?

मुझे स्मरण है कि जब मैं 'आर्य गजट' लाहौर का सम्पादक था। उस समय फुरकियाँ (चिड़ियाँ) जो घरों में रहने वाली छोटी पक्षियाँ हैं, खाने की थाली के सामने आते ही, शोर मचाती हुई मेरे इधर उधर फड़फड़ाती और मंडलाती थी। कोई मेरे सिर पर बैठ जाती थीं कोई कंधे पर और मेरी थाली से चावल के दाने चुन चुन कर खाती रहती थीं। मैं प्रसन्न रहता था। यह अवस्था वर्षों तक थी, परन्तु जब कोई दूसरा मनुष्य आगया तो वह परों को फड़फड़ाती हुई फुदक कर उड़ जाती थी, इसका कारण अहिंसा ही था। क्योंकि आर्यसमाज से सम्बन्ध रखता हुआ भी न मैं किसी मतमतान्तरका खण्डन करता था, न मेरी लेखनी से कभी हृदय दुखाने वाले लेख निकलते थे। मैं जब तैसा था अब भी वैसा ही हूँ। निर्पक्ष हूँ। पक्षपात रहित हूँ।

मनुष्य कुछ न करे-मनवचन और काया से अहिंसक होने के प्रत्यन में लगा रहे। उसके हृदय में प्रेम भरा हो। और यह सारा जगत् उसका कुटुम्ब प्रतीत होगा-चित्त का विशाल और मन का उदार होता जायगा। उससे किसी की हानि नहीं पहुँचेगी। और सब आप ही आप उसे प्यार करने लगेंगे। यह मेरा निजका अनुभव है और यह अनुभव सिद्ध है। अहिंसा दया का मार्ग है:—

"दयाधर्म का मूल है, धर्म दया का मूल।
दयावन्त नर को कभी, नहीं व्यापे जग सूल॥ १॥

..ा भाव मन में नहीं कथे कथन दिन रात।
वह नर इस संसार में, भवसागर बह जात॥ २॥
दया भाव हृदय बसे, दयावन्त हो जो।
सच्चा ज्ञानी जगत् में, निश्चय समझो सो॥ ३॥
देना हो तो प्रेम दे, लेना हो तो गुरु नाम।
फिर जग में व्यापे नहीं, क्रोध लोभ और काम॥ ४॥
दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
दया बिन नर जगत् में, भोगे नरक निदान॥ ५॥
सतसमागम मुक्ति गति, मिले दया का दान।
दया क्षमा से पाईए, ध्रुव पद पद निर्वान॥ ६॥
'राधास्वामी' की दया, सूक्ष्म अगम अलेख।
दया धर्म का मूल है, जाना आँखों देख॥ ७॥

———o———

[६]

धर्म के दश लक्षण !

धर्म की जड़ बतादी गई। जैनियों ने अहिंसाको परम धर्म माना है। यह धर्म बीज है। और जब बीज में अङ्कुर आता है-पत्ते निकलते हैं-टहनियाँ और शाखायें उत्पन्न होती हैं, फूल आते हैं. फूल से फल प्रकट होते हैं, तब उनको देखकर मनुष्य समझने लगता है कि यह अमुक प्रकार का वृक्ष है। पत्ते फल फूल के देखने से उसके नामरूप की परख होती है। यह संसार नाम और रूप का विस्तार है। नाम और रूप के विना कुछ नहीं होगा।

अहिंसा परम धर्म है। जैनाचार्यों ने उसके दश लक्षण ठहराये हैं। जिनके नाम हम तुमको यहां सुनाते हैं:-(१) क्षमा (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) सत्य, (५) शौच, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) आकिञ्चिन्य (१०) और ब्रह्मचर्य। यह दशलक्षण धर्म है। जो धर्म के स्वभाव कहे जाते हैं। इनकी सम्मिलित अवस्था व्यौहार प्रतिभास और परमार्थ की रोशनी से मिली जुली पद्धति में रत्नत्रय कहलाती है, जिनके नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र हैं। तीर्थङ्करों ने इन्हीं के ग्रहण करने को शिक्षा दी है।

(१) क्षमा सहनशीलता है। दूसरे के अपराध को दृष्टि

में न लाकर उसके साथ प्रेम पूर्वक समता का वर्ताव करते रहना दया है।

(२) मृदुल भावका नाम मार्दव है। नरमदिली और नरममिजाज़ी को मार्दव कहते हैं।

(३) आर्ज़व सरल भाव को कहते हैं। सच्ची और साधारण वृत्ति का होना आर्जव कहलाता है।

(४) किसी की भलाई मात्र का भाव लेकर बोलना सत्य है। जिससे किसी को हानि पहुंचे, अथवा उसके मनको चोट लगे ऐसी सच्ची बात से भी हिंसा होती है। उससे बच कर रहना ही पुरुष का लक्षण है। मनुजी कहते हैं:-"सत्यंब्रूयात् प्रेम ब्रूयात्-नाब्रूयात् सत्यम् अप्रियः"। सच बोलो, प्यारा बोलो, अप्रिय सत्य को कभी जिह्वा से न निकलने दो। सत्य प्रिय है। अप्रिय सत्य बक-वास है।

(५) शौच शुद्धि को कहते हैं। यह अन्तर बहिर दृष्टि से दो प्रकार की है। व्यौहार शुद्ध हो, भाव शुद्ध हो, इनको शुद्धि कहते हैं, विशेषतया मनकी सफाई का नाम शुद्धि है।

(६) संयम इन्द्रियों की पूर्ण रोकथाम का नाम है। संस्कृत 'सम' (बिल्कुल) और 'यम' (रुकावट) है।

(७) मन को गरमी पहुंचा कर रोक रखने का नाम तप है।

(८) त्याग छोड देने का नाम है, जिसे वैराग कहते हैं।

(९) अपरिग्रह का नाम आकिञ्चिन्य है। किसीसे कुछ न लेना अपरिग्रह है।

(१०) साधारण दृष्टि से ब्रह्ममे चर्या करना ब्रह्मचर्य कहा गया है। और साधारण रीति से स्त्रीजाति अथवा विषय भोग से बच कर रहने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

यह दश धर्म के लक्षण हैं

"क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और त्याग।
संयम, तप, आकिंचना, ब्रह्मचर्य अनुराग ॥ १ ॥
यह दशलक्षण धर्म के, समझे साधु सुजान
उत्तम कथनी, करनी, कर लहे दशा निर्वान ॥ २ ॥
कमल नीर व्यवहार हो, मुरगाबी की रीति।
जगमें रह जगका न हो, इन्द्रियमन को जीत ॥ ३ ॥
जो जीते मन इन्द्रिय को, वही कहावे जैन।
गुरुपद कमल को बन्द नित, समझे गुरुके बैन ॥४
राधास्वामी, की दया, सत्संग कर सुपरतीत।
हमने समझा सारतत, धार संतमत रीति ॥ ५ ॥

अब इन दशों की व्याख्या अलग २ की जायगी; जिसमें एक २ का तत्व भलीभांति समझ में आजाय।

[७]

क्षमा

क्षमा संस्कृत धातु 'क्ष' (संसार का बरबाद करना) और 'म' (मन) से निकला है। मनसे किसी के अपराध को भूल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर से दृष्टि को रोक कर उसकी ओर ध्यान न देना और मनसे अनुराग और प्रेम रखना क्षमा कहलाता है। उत्तम क्षमा क्रोधके उपशम अथवा क्षय से होती है। जब तक मनमें लेशमात्र भी क्रोध अंग है: तब तक क्षमा नहीं आती। क्रोध के क्षय का नाम ही क्षमा है। इसके अतिरिक्त और कोई नहीं है।

क्षमा से दूसरे मारे जाते है, परन्तु जो प्राणी क्रोध करता है वह अपना आप सर्वनाश करता है। क्रोध करने से मन, इन्द्रियां, नस, नाड़ी इत्यादि अपने २ स्थान को त्याग देती हैं। समता की हानि होती है। और जब शरीर के अन्तरभाग में क्रोध की अग्नि प्रचण्ड हो जाती है तो मनुष्य कम्पायमान हो जाता है। एड़ी से लेकर चोटी तक उसके अन्दर आग लग जाती है, उसके प्रज्वलित होने से रक्त, मांस, मज्जा, धातु गर्म चूल्हे पर चढ़ी हुई हांडी की तरह खौलने और उबलने लगते हैं। आंखें लाल भभूका बन जाती हैं। और यदि कहीं जिह्वा खुल गई तो फिर उसके द्वार से ज्वाला फूट निकलती है-रोमांच हो जाते हैं। रोम-रोम से गरम भाप निकलने लगती है

और फेडी से लेकर चोटी तक अग्नि व्याप्त हो जाती है। ऐसा मनुष्य कहीं का नहीं रहता । उसका धीरज जाता रहता है। बुद्धि नष्ट भ्रष्ट हो जाती है । हठीला और ज़िद्दी हो जाता है और धर्म का तो ऐसा लोप हो जाता है कि वह अपने आप को बिल्कुल ही भूल जाता है । मर्यादा का उल्लङ्घन हो जाता है और मर्यादा भ्रष्ट पुरुष कौडी काम का नहीं रहता। वह आप अपना अपमान करा लेता है। और दिन प्रति दिन विचार शक्ति से हीन होता हुआ, बैल बनता हुआ मित्र को शत्रु बनाता हुआ, संसार की ओर से तो दरिद्री हो जाता है और परमार्थ धन तो उसके कभी हाथ ही नहीं लगता।

धीरे २ जब क्रोध करने की आदत पड़ जाती है, तब वह चिड़चिड़ा हो जाता है। और घर के सम्बन्धी प्राणी न केवल उसका अपमान करने लगते हैं, किन्तु सब उससे दूर भागते रहते हैं और वह मर कर दूसरे जन्म में ऐसी अधोगति को प्राप्त होता है कि यदि सौभाग्य से उसे सन्तों का सत्सङ्ग न प्राप्त हुआ तो वह जन्म जन्मान्तर तक ही बिगड़ता ही चला जाता है। उदाहरण के लिये देखियेः—

(१) मैं लाहौर गया हुआ था और बिच्छूवाली मुहल्ले में रहता था। एक दिन देखता क्या हूँ कि कोई बाबू छोटे बालक के सर पर फोनोग्राफ़ के पचास तवे रखाये हुये गली

से गुज़र रहा है। और उस बालक नौकर से वह क्रोध से बुरा भला कहता चला जा रहा है। लड़का चुपचाप सुनता जाता था-इसकी किसी बात का उत्तर नहीं देता था। इसे और क्रोध आगया। मुँह पर ज़ोर से एक तमाचा मारा, पचासो तवे पृथ्वी पर आ रहे। लड़का न संभाल सका। यदि एक एक बात तीन २ रुपये का था, तो देखो इस क्रोधी मूर्ख ने किस तरह क्रोध द्वारा अपनी पचास रुपये की हानि एक क्षण में करली। लड़का तो यह दशा देख कर मुस्कराया और भाग गया। बाबू की कुछ न पूछिये-उसकी जो दशा हुई होगी वह आप ही समझ सकते हैं।

(२) बरेली में मेरे दो आर्यसमाजी मित्र रहते थे। एक कहता था "संसार से साधुओं का लोप हो गया।" दूसरा कहता था; "नहीं, संसार में साधु हैं।" इस पर उनमें वाद विवाद होने लगा। अन्त में यह सम्मति हुई कि चल कर इसकी परीक्षा करनी चाहिए। प्रातःकाल का समय था। दोनों उठे-समीप ही में कोई नाम का साधु झोंपड़ी में रहता था। दोनों मित्र उसके समीप जाकर कहने लगे—"बाबा जी! तुम्हारे घर में आग है, दे दो-सरदी लग रही है। हम सेंक कर उससे मुक्ति पा जायं।" साधु ने उत्तर दिया, "यहाँ अग्नि नहीं है।" वह बोले; "अग्नि आप के यहाँ अवश्य है।" साधु क्रोधातुर हो गया, 'क्या मैं झूँठ कह रहा हूँ?" उन्हो ने कहा 'अग्नि तो आप के पास है। हमें उसकी बू आरही है साधु।'

ने चिमटा उठाया, "जाते हो, या मैं तुमको बुरा भला कहूँ।' यह बोले-"अग्नि से धुवाँ फूटने लगा। जहाँ धुवाँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है।" साधु चिमटा लेकर इनके पीछे पड़ा। यह भाग निकले। आगे २ यह और पीछे २ साधु, और यह कहते गये-"अब तो अग्नि घोर प्रचण्ड होगई। उस में से ज्वाला फूट निकली। उस के कोप से ईश्वर बचाय।" और अपनी राह ली।

थोडी दूर पर किसी और साधु का झोंपडा था। उन्होंने उसके सन्निकट जाकर यही प्रश्न किया। साधु ने नम्रभाव से उत्तर दिया कि "यहाँ अग्नि नहीं है।" यह कहने लगे, "आप के पास अग्नि अवश्य है।" वह समझ गया, इनका क्या तात्पर्य है--कहा "आओ, बैठो! मैं अग्नि का प्रबन्ध कर दूंगा।" वह उसके पास जाकर बैठे। साधु ने कहा-पुत्रो! अग्नि दो प्रकार की होती है। एक सामान्य, दूसरी विशेष। सामान्य अग्नि से किसी की हानि नहीं होती। वह किसी का शत्रु नहीं है और न कुछ भस्म कर सकती है। विशेष अग्नि से यह काम हो सकता है, यह सारा जगत् अग्निमय है। अग्नि अपने मण्डल में सर्व व्यापक तत्वभूत है। मुझ में, तुम में और सारे संसार में अग्नि है। यदि तुम्हें सर्दी से दुःख हो तो अपने मन में केवल विचार से अग्नि को प्रज्वलित कर लो और तुम्हारा शरीर गरम हो जायगा। यह शक्ति मनुष्य के ख़याल में है। अगर वह सर्दी का सङ्कल्प उठाता रहेगा तो ठण्डा होता चला

जायेगा और यदि गर्मी के भाव को चित्त देकर मन को ज़रा हिला देगा तो उसके शरीर में देखते २ गर्मी आ जायगी। तुम मेरे पास बैठो, मैं तुम को यह अग्नि दूंगा और जो तुम्हें बाह्य अग्नि की आवश्यक्ता है तो यह दियासलाई की डिबिया मोजूद है, लकड़ी और कण्डे भी रक्खे हुए है, अभी अग्नि प्रज्वलित हो जायगी।"

दोनों ने स्वीकार किया, अभी संसार में साधु हैं। और उससे प्रसन्न होकर अपनी २ राह ली।

(३) जब बुद्धदेव काशी में आकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने लगे। एक ब्राह्मण जाति का जवान लडका उन के पास आकर कहने लगा—"ऐ मुंडमुन्डे ! तुझे किसने बुद्ध बनाया है और तू कैसे अपने आप को संसार का गुरु कहता है ? तुझे गुरु भाई का क्या अधिकार है ? तू क्षत्री था। क्षत्री धर्म का पालन करना। ब्राह्मणों की पदवी पर क्यो हस्तक्षेप कर रहा है।"

बुद्धदेव मुस्कराये। इसे क्रोध आ गया, और गालियों पर गालियाँ देना प्रारम्भ किया। बुद्धदेव चुपचाप खड़े रह गए। जब गालियां समाप्त हुई, आपने नम्रभाव से पूछा—"बेटे ! यदि तू कह चुका हो तो मैं भी कुछ अपने वचन सुनाऊँ।" यह फिर बोखला उठा। फिर अनुचित और असभ्य बाते कहने लगा। बुद्धदेव सहनशीलता से उस की बातों

को बरदाश्त करते गए। जब वह थक थका कर तीसरी दफा चुप हुआ, बुद्धदेव ने फिर वही प्रश्न उससे किया-"बेटे, क्या अब मैं भी कुछ बोलूं ?" उसने उत्तर दिया-"कह क्या कहता है ?" बुद्धदेव बोले-"बेटे ! यदि कोई मनुष्य तेरे पास भेंट की सामिग्री उपहार की रीति से लावे और तू उसे स्वीकार न करे, तो यह भेंट किसकी होगी ?" क्रोधी ब्राह्मण मित्र ने उत्तर दिया। "इसी बुद्धिमानी पर तुम बुद्ध बने हो ? आंख नहीं और नाम नैनसुख ! बोध नहीं और बुद्ध कहावे, ज्ञान नहीं और ज्ञानी बने, ऐसा नर मूर्ख जग में कहावे। यह भेंट उसी की होगी जो लाया था। लेने वाले ने न लिया तो क्या हुआ ! वह अपने घर लेकर चला जायगा।

बुद्धदेव बोलेः-"बेटे ! तू मेरे लिये गाली का उपहार लाया है। यदि मै उसे स्वीकार नहीं करता तो क्या वह गालियों की भेंट उलट कर तेरे लिये हानिकारक नही होगी ?"

नौजवान ब्राह्मण चुप ! काटो तो लहू नहीं बदन में।

बुद्ध ने फिर अपना भाषण आरंभ कियाः-'ऐ बेटे ! जो सूरज पर थूकता है-थूक सूरज तक न पहुँचेगा, लौटकर उसी के मुंह पर गिरेगा और उसे अशुद्ध कर देगा। ऐ बेटे ! जो प्रतिकूल वायु के बहते समय किसी पर धूल फेंकता है, वह धूल उस दूसरे मनुष्य पर न पड़ेगी, किन्तु फेंकने वाले को ही गंदा करेगी। ऐ बेटे ! जो मन, वचन और कर्म से किसका

हानि पहुँचाना चाहता है और उस मनुष्य में हानि पहुँचाने का संस्कार नहीं है, तो उसका भाव उलटकर उसी की ओर जायगा। और उसके अन्त करने में समायेगा, क्योंकि उसके रहने के लिए और कहीं ठौर ठिकाना नहीं है।"

यह कहकर बुद्धदेव चुप होगये। ब्राह्मण पुत्र की अवस्था बदल गई। वह धाड़ें मारकर रोता हुआ "त्राहिमाम्! त्राहिमाम्!" कहेता हुआ उनके चरणो पर गिर गया। उन्होंने उसे दयापूर्वक अंग से लगा लिया। और दूसरे दिन इसने प्रार्थना करके बुद्ध धर्म और संघ की शरण ली।

(४) जब वर्द्धमान भगवान घरसे निकल कर बारह मास के तप में मग्न थे, दो चार जैनमत के विरोधी आये और उन्हें पाखंडी समझकर उनके दोनों कानों में लोहेकी कीलें ठोक दीं, भगवान चुपचाप समाधिस्थ होकर बैठ रहे। विरोधी तो यह अनर्थ करके चले गये। दो चार श्रावक आये। उनकी दशा देखकर इन्हें दुःख के साथ क्रोध हुआ। धीरे २ कीलोंको कान से निकाला। कानों से इतना रक्त बहा कि लथो लुहान होगये और पृथिवी पर रक्त पुत गया। इन श्रावकोंने भगवानसे आज्ञा मांगी कि "हम ऐसे अपराधी पुरुषों को ताड़ना किये बिना न रहेंगे। जिन्होंने आपको ऐसा कष्ट पहुंचाया है हम उनको कदापि जीवित न छोड़ेंगे।" भगवान ने नम्रता पूर्वक उन्हें उत्तर दिया कि "हे श्रावको! मैं किसी प्राणीको दुःख देने नहीं

आया, किन्तु सुख पहुंचाने आया हूं। हे भक्तो! मेरा कर्तव्य बंधाने का नहीं केवल छुडाने का है। मै तुमको ऐसी आज्ञा कभी न दूंगा और यदि तुम भूलकर ऐसा करोगे तो मैं समझूंगा कि तुम श्रावक धर्म से पतित हो गए!" वह श्रावक भगवान के वचन सुनकर दंग रह गए।

भगवान ने उनसे कहा-"हे श्रावको! यदि कोई पागल तुम्हारे साथ अनुचित व्यवहार करे? तो तुम उससे क्या बदला लोगे? क्या तुम भी अनुचित व्यवहार करोगे, वह निर्बुद्धि पागल है, उसमें समझबूझ नहीं है-तुममें समझबूझ है। तुम क्षमा करो। "ऐ जैनियो! जिन धर्म यह सिखाता है कि तुम वैर भाव का परित्याग करके इन्द्रियदमन करो! मनका शमन हो जाय! इन्हें जीतलो और जब तुम इनको जीत लोगे तो सच्चे जैनी होगे। हे भाइयो! निःसन्देह तुमने शत्रुओं पर विजय पाने के लिये मनुष्य जन्म धारण किया है। तुम्हारे शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहकार हैं। यदि तुमको जीतने का विचार है, तो इनको जीतो। पागलो और अनसमझ प्राणियों के पीछे क्यों पड़े हो? इनकी ओर से उदासीनता का व्रत ग्रहण करो।"|

भगवान यह कह कर चुप हो रहे। श्रावको ने उनके उपचार और विनय किये। यह क्षमा है और यह उत्तम क्षमा है।—

यह कथा श्वेताम्बर जैनग्रन्थ के अनुसार है, दिगम्बर शास्त्रों में जो वर्द्धमान स्वामी का चरित्र है, इसमें यह बात नहीं मिलती है॥

'जो तोकू काटा बोये, ताहि बोय तू फूल ।
तोकू फूल के फूल हैं, वाको है त्रिशूल ॥
वनमें लागे आग जब, भागे पशु ले प्राण ।
तैसे क्रोध से तन तजे, बुद्धि विवेक सत ज्ञान ॥१॥
तनका नगर सुहावना, दया धर्म का देश ।
आग लगी जर बर गया, शीतलता नहीं लेश ॥२॥
क्रोध अग्नि हृदय बरी, भस्म भई सब देह ।
क्या खोजे तू धर्म वहा, वह तो होगया खेह ॥३॥
क्रोध पाप को मूल है, और पाप सब तुच्छ ।
बिना द्वेष और ईर्षा, इसके अङ्ग सब कुच्छ ।
वैरी औरन के तईं, लेय जान और प्राण ।
निज घातक क्रोधी बना, सो मूरख अनजान ॥५॥
मूरख से नहीं उरझिये, ज्ञानी से नही वैर ।
शांतभाव नित कीजिये, इस दुनिया की सैर ॥६॥

[८]

मार्दव !

मार्दव जहां तक मैं समझता हूँ प्राकृत भाषा का शब्द है। यह संस्कृत शब्द 'मृदु' अथवा 'मद' से निकला है, जिसका रूढ़ि अर्थ मिलना है। मृदुलभाव-कोमलभाव-और नर्मस्वभाव को मार्दव कहते हैं।

मार्दव मानकषाय का उपशम है। जबतक मनके अन्दर मानका संस्कार किञ्चित् मात्र भी है, तबतक उसके लिये ससार में कुशल नहीं है। अहंकारी जीव माता-पिता, देव, गुरु और आचार्य से भी यह इच्छा रखते हैं कि उनका सम्मान किया जाय। आये थे सरसे अहकार उतारने के लिये और उसे जिनके सामने मस्तक नवाना है, और जिनकी शरणागत होकर अहंकार शमन और मान मर्दन करना है, उन्हींके सामने अहंकारी बनकर अनुचित करतव कर बैठते हैं! इस भूल का कहीं ठिकाना भी है, जैनधर्म में इसको मान कषाय बोलते हैं। यह जड़ है संसार के दुःखों की:।—

यह मन मता है-गुरु मता नहीं है-ऐसे भाव को मन का मद कहते हैं। मार्दव का तात्पर्य नम्रभाव, और विनय सिखाना है। जिसमें मार्दवभाव नहीं होता, वह अपने को ऊंचा और दूसरों को नीचा समझता है और अहंकार के नशे में चूर

रहना है। मद (अहंकार) लाखों तरह का है । राजमद, धनमद, विद्यामद, कुलमद, जातिमद, धर्ममद, यौवनमद, देहमद देशमद, वाणीमद, विचारमद इत्यादि इत्यादि । इनमें से जबतक एकभी रहेगा, तबतक मनुष्य और किसी को अपने समान न समझेगा और उसमें दया न आयगी ।

मनुष्य किसी बात का घमण्ड करे? यहां जो है वह नाशवान है! नाशवान पदार्थ पर इतराना विचारशील पुरुषों का काम नहीं है। संसार में जिसे देखिये; वही किसी न किसी घमंड में रहता है। यह बहुत बड़ा दोष है। और दोषतो दबभी जाते हैं और दबे रहते हैं, यह जब देखो उभरा ही रहता है। इसकी गति अति सूक्ष्म है। कभी २ इसका पताभी पाना महा कठिन है और जिसके हृदय में यह बसता है उसकी दृष्टि प्रायः अवगुण ही पर पड़ती है—दूसरों के गुण पर नहीं जाती। और यह संसार में दोष दृष्टि ही की कमाई में लगा रहता है और नानाप्रकार के दुःख भोगता है। कबीरजी सा० कहते हैं:—

"मीठी बानी बोलिये, अहम् आनिदे नाहि ।
तेरा प्रीतम तुझमें, वेडी भी तुझ माहि ॥

जिसमें मार्दव का गुण नहीं है। वह अपना सर्वस्व नाश कर देता है और फिर भी घमंड को नहीं छोड़ता। हानि पर हानि होती रहती है। तिसपर भी इसकी आँख नहीं खुलती। और टेढ़े रास्ते में पड़ा हुआ, यह सीधे रास्ते पर नहीं आता।

यह ऐसा हार्दिक रोग है जिसको असाध्य कहते हैं । इसकी औषधि केवल मार्दव—नम्रभाव है और इस रोग का असा हुआ मनुष्य परिणाम को न समझता हुआ इसके दूर करने का उपाय तक कम सोचता है । अथवा बिल्कुल नहीं सोचता और सारी आयु रोगी रहकर बिताता है । यह क्या है ? उदाहरणों से समझ में आवेगा:—

(१) कृष्ण जी धर्मराज युधिष्ठिर की ओरसे दूत बन कर दुर्योधन की सभा मे पहुँचे। और उससे कहा: -"भाई धर्मराज कहते हैं—तू राज अपने पास रख,हम को केवल एक गाँव दे दे। हम उसी से अपना और अपने भाईयों का पालन पोषण करेंगे। दुर्योधन ने उत्तर दिया- 'एक गाँव बहुत होता है । मैं युधिष्ठर को सुई के नोक के बराबर भी पृथ्वी नहीं दूंगा ।" कृष्ण ने समझाया-"फिर युद्ध होगा और दोनों कुल नाश हो जायेंगे। इस घमण्ड और सब अकड़ से कोई भलाई न होगी और जब मरमरा गये तो फिर राज कौन करेगा ?" दुर्योधन हट पर तुला हुआ था, बोला-"चाहे संसार इधर से उधर पलट जाये । मैं न युधिष्टर की सुनूंगा और न तुम्हारी बात मानूंगा ।" कृष्ण ने कहा—"फिर तू लड़ाई मोल ले रहा है- इसका परिणाम नाश है । कौरव और पाण्डव दोनों ही इस लड़ाई से मिट्टी में मिल जांयगे ।" उसने कहा—चाहे कुछ भी हो । मैं अपनी हट न छोड़ूंगा !"

लड़ाई हुई-महाभारत ठना-और उसका जो अन्तिम परिणाम हुआ उसे सब जानते हैं ।। मार्दव गुण की कमी से ऐसा हुआ !

(२) अभी महाभारत युद्ध का आरम्भ नहीं हुआ था । कृष्ण, कौरव और पाण्डव दोनों के सम्बन्धी थे और दोनों व्यवहार अनुसार उन से सहायता लेने के लिये पहुँचे । दुर्योधन पहले पहुँचा । वह खाट पर पड़े हुये सो रहे थे । जगाना उचित नहीं समझा । दुर्योधन गया था सहायता मांगने परन्तु राजमद के नशे में चूर होने के कारण सिराहने बैठा । अर्जुन देर से पहुँचा । इस में भक्ति भाव था-पांयते बैठा । कृष्ण की आँख खुली । पहले अर्जुन को देखा-पूछा- "कैसे आये ?" उस ने उत्तर दिया, "अब संग्राम की ठन गई । सहायता मांगने आया हूँ ।" कृष्ण बोले, "बहुत अच्छा, जो कुछ हो सकेगा, सहायता दूंगा ।" इतने में घमंडी दुर्योधन बोल उठा, "मैं इससे पहले आया हूँ । मेरा अधिकार विशेष है ।' कृष्ण द्विधा में पड़ गये । दोनों से कहा, "एक ओर मैं अकेला हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस सम्बन्धियों की लड़ाई मे हथियार न उठाऊंगा । और दूसरी ओर मेरी सेना और सेनापति इत्यादि हैं, जो बड़े सूरमा और योद्धा हैं । तुम दोनों निर्णय कर लो, किस को चाहते हो ?" मदान्ध दुर्योधन ने कहा, "मैं सेना और सेनापति को चाहता हूँ ।" अर्जुन ने विनती की, "मैं केवल आप की आवश्यक्ता रखता हूँ ।" कृष्ण

बोले, "मुझ अकेले को लेकर तू क्या करेगा, मैं तो लड़ूंगा नहीं।" यहाँ पहले से ही इसका उत्तर मौजूद था। कहा, "आप मेरे रथवान बने रहें और हम को उचित सम्मति देते रहें। बस इतना ही चाहिए।' कृष्ण ने स्वीकार किया "एवमऽस्तु।"

और लड़ाई हुई। पांडव जीते और कौरव मारे गए। "यत्र कृष्णम् तत्र जयम्।'

(३) रावण को युद्धमद था। वह सीता को हर लाया मन्त्रियों और उसकी रानी मन्दोदरी ने लाख समझाया कि घमण्ड को छोड़ कर सीता को लौटा दो। उसने उनकी नहीं सुनी। परिणाम यह हुआ. "एक लाख पूत सवा लाख नाती, तो रावण के दिया न वाती।"

(४) मैं लाहोर में "मार्तण्ड" नामक मासिक पत्र का सम्पादक था। राधास्वामी मत में प्रवेश करने की वजह से आर्यसमाज का दल मेरे पीछे पड़ गया और मेरी लेखनी से एक अनुचित लेख निकल गया। लोग कितना ही मुझे समझाते रहे, "यह लेख न लिखो"। मैं मद में चूर था। मित्रों की बात नहीं मानी। मुकद्दमा चलाया गया। जिस में मुझे बहुत कष्ट भोगना पड़ा और अन्त में लज्जित हो कर क्षमा-पत्र देकर सुलह कर ली। यदि मुझ में मार्दव भाव का उत्तेजन होता तो मुझे यह कष्ट और यह लज्जा न उठानी पड़ती।

घमण्ड का सर हमेशा नीचा ! जो इसके वश में आयेगा, वह अवश्य दुःख भोगेगा।

खोद खाद धरती सहे, काट कूट बनराय।
कुटिल वचन साधू सहैं, और से सहा न जाय॥

दोहा.—मान हना हनुमान सोई, राम का साचा वीर।
बजरंगी बलवान होय, दुख सुख सहे शरीर॥१॥
धन त्यागो तो क्या भया, मान तजा नहीं जाय।
मान ही यम का दूत है, मान ही सब को खाय॥२॥
गुरु पद शीश झुकाय कर, त्याग दिया अभिमान
सहज ही रज रावन मरा, बिना धनुष बिन बान॥३॥
नहीं मागूँ मैं मरतबा, नहीं मागूँ सन्मान,
सतगुरु पद कर दंडवत, मागू नाम का दान॥४॥
मन को अपने मारलें, तो साचा हनुमान।
पायेंगा गुरु की दया, एक दिन पद नर्वाण॥५॥

———o———

[६]

आर्जव

आर्जव सरलभाव को बोलते हैं। सरलभाव ही सहजभाव है। यह मनुष्यमात्र का भूषण है। जिसमें सरलता और सहजता नही है, वह दिखावट बनावट पर मरता रहता है और जिसमे यह है उसे किसी भूषण की अथवा बनावटी शृङ्गार की आवश्यक्ता नहीं है। जो जैसा है अन्तमें वैसा प्रगट होकर रहता है। मनुष्य लाखरूप बनाये-लाख बहुरूप धारण करे-संभव है कुछ दिन यह चाल उसकी चल जाय। परन्तु अन्तमें भन्डा फूट ही जाता है। "काल समय जिमि रावण राहू। उघरै अन्त न हुइ है निवाहू।

सहजवृत्ति सब में उत्तम है। इससे उतर कर साहित्य-स्वाध्याय है। इससे बहुत नीचा देशाटन है। परन्तु सहजवृत्ति क्या है? इसका समझना कठिन है। इन तीनों से ही तजुर्बे बढते हैं और मनुष्य में समझबूझ आती जाती है और यह समझ बूझ समय पर उसे सरलभाव वाला बना देती है।

जो जैसा हो वैसा होकर दिखाना किसी को नहीं भाता। सब बनावट और दिखावट में पडे रहते हैं। यह बनावट अधिक समय तक नहीं चलती और अन्तमें मनुष्य आप उससे

बढ़ता जाता है, फिर भी इसका त्याग नहीं होता और न कोई उसे तजना चाहता और न तजता है।

एक मनुष्य है जिसमें औगुण भरे हुए हैं। घर में ऊधम मचाता है, धमाचौकड़ी करता है। स्त्री, पुत्र, सभी उसके नाम को रोते हैं। परन्तु जब कोई अतिथि, अन्य पुरुष या पाहुना उसके घर आजाता है तो वह अपने आप को सभ्य और प्रतिष्ठितरूप मे प्रगट करता है। यह कपट और छल तथा धोका है। ससार में सब जगह ऐसा ही व्यवहार हो रहा है। जो जैसा है वैसा नहीं दिखता। जो जैसा है वैसा नहीं करता और उसकी वैसी ही वृत्ति बनती जारही है, सहजावृत्ति अथवा आर्जवभाव उसमे नहीं आता है और कौन जाने उसकी कब जाकर शुद्धि होगी।

तीर्थङ्करों ने इस आर्जवभाव पर बड़ा ज़ोर दिया है। ऋषभदेव जी से लेकर वर्द्धमान स्वामी तक सब के सब नग्नावस्था में रहते थे। उनको न किसी का भय था, न लज्जा थी न मन में हिचकिचाव था। यही तीन अर्थात् भय, लज्जा और हिचकिचाव पाप के रूप हैं, और पापी मनुष्य के लक्षण कहे जाते हैं। यह तीर्थंकर आत्मवी पुरुष थे। जिन्हों ने अजीव संसर्ग का सर्वथा त्याग कर दिया था। आज संसारी मनुष्य पाखण्डी होकर इस अवस्था से घृणा करता है। किन्तु आगे चल कर लोग समझ जायँगे कि बिना आर्जव भाव के सच्चा सुख नहीं प्राप्त होता।

मैं दूसरों की क्या कहूँ! अब मेरी दशा ऐसी रहती है। नंग-धड़ंग रहता हूँ। हां, समाज की रीति के अनुसार वस्त्र धारण कर लेता हूँ, क्योंकि अभीतक पूरा आर्जव भाव नही आया है। फिर भी इस सादगी और सरलता में मुझे सुख रहता है। और लोगों को सुनकर आश्चर्य होगा कि जबसे मै कुछ २ इसकी ओर ध्यान देने लगा हूँ, मुझे पशु-पक्षी इत्यादि से आप शिक्षा मिलने लग गई है। राधा स्वामीधाम के सन् १६२६ के भंडारा में बाबू बांकेविहारीलालजी, मैनेजर इलाहाबाद बैंक, इटावा अपनी नौ महीने की लडकीको धाम मे लाये थे। वह लगभग एक महीने तक रहे। समय समय पर प्रतिदिन वह लड़की को मेरे आसन के पास लाकर लिटा देते थे और उस लडकी को देखकर जो भाव मेरे मन में उत्पन्न होते उसी के अनुसार मेरा भाषण हुआ करता था। मे सरल स्वभाव का मनुष्य हूँ। वह लडकी भी ऐसी ही थी। मैं उसके भाव को भांप लेता था। वह मेरे समझ जाती थी। अब मै जो कुछ पढ लिख चुका हूँ उसको भुलाना और भूलना चाहता हूँ। सरलता और आर्जव संयुक्त हो जाऊँ, इसी का ध्यान रहता है।

हिन्दू निन्दा करते है कि जैनी नगी मूर्तियें पूजते है। परंतु वह भूल जाते है कि उनके यहां शिव भगवान दिगम्बर कहलाते है। अवधूत कोटि के मनुष्य कब हिन्दुओं में कपड़े

पहनते हैं ? स्वामी दत्तात्रय जी कौनसा वस्त्र धारण करते थे, सनक सनन्दन सनातन और सनत् कुमार ने कब कपड़े लत्ते पहने थे ? अन्तिम अवस्था आनेपर मनुष्य आप दिगम्बर जाति को प्राप्त होने लगता है। यह कुदरती और नेचरल बात है। और इस प्रकार रहने वाले मनुष्यों का अंतर वाहिर एक तरह का होता है और इसीकी उत्तमता है। नंगे मनुष्य को देखकर पशु उतने भयभीत नहीं होते, जितने वह कपड़े पहने हुए से चौकन्ना होते हैं।

मैं यह नहीं कहता कि कोई कपड़े न पहने। पहने, क्योंकि उसके शरीर, समाज और लोक लाज का अभ्यास है। अनुभव सम्पन्न होने पर उसमें आप ऐसी वृत्ति स्वाभाविक रीति से आने लगेगी।

> नहीं मुहताज जेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी।
> कि जैसे खुशनमा लगता है देखो चाद बिन गहने॥

आर्जवपना नंगे रहने पर नहीं है। इस के कितने ही अङ्ग हैं। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वह जैसा है वैसा रहे।

> कहता है करता नहीं, पथ की ओर न आय।
> कहे कबीर सो स्वान गति, बाधा यमपुर जाय॥

जिस में आर्जवपना न होगा, उस में सहजावृत्ति कभी नहीं आयेगी और न वह सरल स्वभाव वाला बनेगा। इस

बात की आवश्यकता है कि मनुष्य का जीवन सादा और उस के भाव ऊँचे हों। (Simple living and high thinking) यह कहने का अभिप्राय है।

संसार दिन प्रति दिन बनावटी होता जा रहा है और दुःख की वृद्धि हो रही है। ऐसा तो होना ही चाहिए। आश्चर्य तो उस समय होता, जब ऐसा न होता। नीच से नीच कुल के मनुष्य को देखो, सब मान अपमान के बन्धन में फँस रहे है। सब 'इज़्ज़त' चाहते हे—दिखावट और बनावट पर मरते है। और उन के बन्धन बढ़ते ही जाते हैं, और घटने पर नहीं आते। आवश्यकतायें बढ रही हैं, जो आवश्यक नहीं है और जीव कठपुतली जैसा अजीव बना हुआ घूम फिर रहा है। धर्म के पालन के लिए आर्जवपना मुख्य है। जैनधर्म का तत्व केवल इतना ही है। आर्जवभाव के उदाहरण देखिए:—

(१) एक राजा महल के कोठे पर मख़मल के तोशक पर लेटा हुआ करवटें बदल रहा है। उसे नींद नही आती है। महल के सामने राख का ढेर पड़ा हुआ है। उस पर एक नग्न साधु पड़ा हुआ गहरी नींद में खुर्राटे ले रहा है। राजा को आश्चर्य हुआ। प्रातःकाल उसे बुला भेजा—पूछा "क्या कारण है कि मुझे तो नींद नहीं आती और तू सुख चैन से सोता है।"

साधु ने उत्तर दिया—"तू बन्धन में है और मैं बन्धन मुक्त

हूं। बन्धनवाले को तो दुःख होता ही है। मुक्त को क्यों दुःख होने लगा ?"

राजा—मैं कैसे बन्धन में हूं और तू कैसे मुक्त है ?"

साधु—तेरे पास माया (अजीवपने का सामान) बहुत है। मेरे पास कुछ भी नहीं है। इस लिये बद्ध है और मैं मुक्त हूं।"

राजा—"क्या मैं भी राज काज छोड़ कर तेरे जैसा साधु हो जाऊँ ?"

साधु—"मैं यह नहीं कहता और न इस की आवश्यकता है। मन से त्याग कर—आर्जव धर्म का पालन कर और तुझे भी सुख मिलने लगेगा। भरत चक्रवर्ती राज काज को संभालते हुये भी परम वैरागी थे और सुखी थे।"

राजा ने समझा यह कंगाल है, इसलिए डींग मार रहा है। उसने उसके लिए एक महल खाली करा दिया नौकर चाकर दिये-तामम सामग्री इकट्ठा कर दी। साधु उसमें रहने लगा। कई दिन बीत गए। राजा देखने आया। साधु वैसा ही प्रसन्न चित्त था, जैसा पहिले था। राजा ने साधु से कहा-"महल में कोई और आकर रहना चाहता है।" साधु उठ खड़ा हुआ और वैसे ही सादगी से हंसता हुआ अपनी राह चला गया। राजा को फिर आश्चर्य हुआ। इसने समझा था कि महल के त्याग से इसे दुःख होगा, किन्तु साधु में दुःख कैसा ? वह तो किसी और ही अन्तर का मनुष्य था।

किसी दिन साधु वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। राजा की सवारी निकली। वह सैर को जा रहा था। इस पर दृष्टि गई। राजा ने कहा "चलो तुम को सैर करा लायें।" साधु ने उत्तर दिया-"मैं नहीं चल सकता। इस वृक्ष का बन्धन भारी है। इसने मुझे बांध रक्खा है।"

राजा—"क्या तुम मूर्ख हो गए हो, जो वृक्ष को बन्धन का कारण समझते हो। वृक्ष तो स्थावर पदार्थ है। यह कैसे बाँध सकता है?

साधु-"तू मुझ से महामूर्ख है, जो राज काज धन दौलत को बन्धन का कारण मान रहा है। यह भी तो जड़ स्थावर हैं। तुझे इन्हो ने कैसे बाँध रक्खा है?"

राजा की समझ में बात आगई। हाथी से उतरा, पाँव पर गिरा, क्षमा माँगी और उसका शिष्य होगया। साधु ने जीव अजीव का सम्बन्ध समझा दिया। इसने अपनी ज़रूरतें कम करदीं। आर्जवभाव को ग्रहण किया और राजा होते हुए भी फिर उसे नींद का आनन्द मिलने लगा।

(२) विक्रमादित्य उज्जैन का महाराजा बड़ा प्रतापी हुआ है। यहाँ तक कि हिन्दुस्तान के बाहर दूसरे देशों रोम इत्यादि में उसके दूत रहते थे। यह बड़ा सरल स्वभाव का मनुष्य था। यहाँ तक कि पृथ्वी पर चटाई बिछाकर सोता था और अपने हाथ से छिपरा नदी से पानी भर लाया करता था अपने निज काम के लिये सेवक नहीं रख छोड़े थे।

(३) हैदराबाद के दानवीर महाराजा चन्दूलाल अभी वर्तमान काल में हुये हैं, वह और उन की धर्मपत्नी दोनों बड़े सादा मिजाज़ थे। अभी उन के देखने वाले संभवतः जीते होंगे। यह भी पृथ्वी पर ही सोते थे और लाखों का दान किया करते थे।

यह समय और प्रकार का है। मनुष्य अपने आप को विशेष सभ्य बनाता और समझता जा रहा है। और उस के जीवन की ज़रूरतें दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही हैं। यह समय का प्रभाव है और साथ ही वह दुःखी भी विशेषतर रहता है।

आत्मदृष्टि से सरल स्वभाव और सादगी का जीवन महा उपयोगी और सुख का कारण होता है। हम जो कुछ कह रहे हैं, इसी आत्मभाव को लेकर कह रहे हैं। जो आत्मोन्नति करने वाला इस का साधन करेगा वह भी अधिक लाभ उठायेगा।

दो.— सहजचाल है सन्त की, सरल स्वभाव स्नेह।
नहीं ममत्व कुल देह का, नहीं है प्यारा गेह ॥१॥
सहजसहज की रीति है, सहज सहजव्यौहार।
सहज पके सो मीठ हो, यह जाने संसार ॥२॥
सरल रीति व्यौहार में, सहज ही प्रगटे ज्ञान।
सरल सहज का नाम है, कठिन है खींचा तान ॥३॥
जागन में सोवन करे, सोवन में रहे जाग।
इस विधि सरल स्वभाव हो, तब आवे वैराग ॥४॥
सहज सरलता मन बसे, अंत परमपद पाय।
साधू ऐसा चाहिये, सरलवृत्ति न भलाय ॥५॥

———०———

[१०]

सत्य

'सत' सच को कहते हैं। 'सत' होने का नाम है। यह संस्कृत धातु 'अस' (होने) से निकला है। जो है जो हो वह सत्य है। और जो जैसा हो वह वैसा ही प्रकट किया जाय, यह सत्य शब्द का अर्थ है।

जैनधर्म यथार्थ धर्म है। इसने अभय होकर सचाई का उपदेश दिया है। किसी प्रकार का लगाव लपेट धर्म के विषय में नहीं रक्खा और न बनावट से काम लिया। जैनधर्म कहता है कि ईश्वर उसे कहते हैं जिसमें ऐश्वर्य हो। यह ऐश्वर्य किसी ऐसे व्यक्ति में नहीं आरोपन किया जा सकता, जिसे दूसरे लोगों ने बिना समझे बूझे जगत् का रचने वाला मान रक्खा है। आज तक कोई मनुष्य अपनी बुद्धिमानी या युक्ति से सिद्ध भी नहीं कर सका, किन्तु लोकलाज और कल्पित परम्परा के भय से सच्ची बात न कहते हैं, न कहने का साहस करते हैं और न कर सकते हैं। पर हठधर्मी से जैनियों को नास्तिक कहते हैं। जो सच्चे और परम आस्तिक हैं। जैनी केवल तीर्थंकरों को ईश्वर मानते हैं, वह उन के अभयभाषण का प्रमाण है। जो यथार्थ है वही सत्य है और यही सत्यधर्म का अटल लक्षण है।

इस सत्य के ग्रहण करने से मनुष्य को अभयपद की प्राप्ति होती है। इस के ग्रहण किये विना अभय होना दुर्लभ है। सचाई से सरलता, मृदुता और सहजता होती है। असत्य अथवा झूठ में खींचतान करना पड़ता है और वह फिर भी सिद्ध नहीं होता। मिथ्या, कपोल कल्पित और झूठ बोलते रहने से मनुष्य की सरलता खो जाती है वह हठ धर्मी और पक्षपाती बन जाता है। वस्तु यथार्थ तो है नहीं। इस भाव का अङ्कुर उस के मन में जमा रहता है, जो कभी दूर नहीं होता। और लाख जतन करने पर भी उस में दृढ़ता नहीं आती। यह कारण है कि असत्य के धारण करने वाले चिड़चिड़े क्रोधी और अभिमानी हो जाते हैं। और अनर्थ करने पर तुल जाते हैं। दृष्टि को पसार कर देखो। जिन्हें जगत् ईश्वरवादी कहता है और जो हठ से कल्पित ईश्वर के पद का ग्रहण करते हैं, प्रायः वही 'खूनखराबा और मार धाड़ करते रहते हैं और जो उनका मतानुयायी नहीं है वह उससे घृणा करते और सताते हैं। यह काम तो साधारण नास्तिक भी नहीं करता, क्योंकि जिस का इसे निश्चय नहीं है अथवा वह समझ नहीं रखता उसे न ग्रहण करता और न मानता है इस अंग में वह कम से कम सच्चा है और उस में वह हठधर्मी नहीं आती जो कल्पित ईश्वरवादियों में पाई जाती है।

जैनी नास्तिक, सत्यवादी और सत्यग्राही हैं। वह ईश्वर-पद को मानते है। परन्तु उनके यहां उस ईश्वर की मानता है

जो सब तीर्थों या जीवन की श्रेणियों का पार करके सिद्ध-शिला पर पहुंच कर सर्वज्ञ और पूर्ण होगया है। यह मतभेद है जो जैनियों और संसारी मत वालों में पाया जाता है। जैनी मत वाले हैं, किन्तु वह मतवाले (मदवाले) और उन्मत्त नहीं हैं। कबीर साहब कहते हैं:—

साधू ऐसा चाहिये साची कहे बनाय।
या टूटे चाहे जुड़े, बिन कहे भ्रम न जाय।

झूँठको पांव नहीं होते। लाख कोई उसकी पुष्टि करे, करता रहे। वह कभी खड़ा नहीं हो सका। यह सब कोई जानता है कि सत्य आधार है। यदि सत्य का आधार न हो तो झूँठ नहीं ठहर सक्ता।

सत्य के लिए लगाव लपेट, युक्ति, प्रमाण और किसो की सहायता आवश्यक नहीं है। वह सर्वाधार होता हुआ निराधार है। वह स्वयम् आप अपना आधार है। वह अपने प्रकाश में आप स्वप्रकाश रहता है। सांच को आंच नहीं ! सांचमें दम्भ, कपट और पाखंड नहीं। वह तो सदा सच है। झूँठको इनका सहारा ढूँढना पड़ता है। और वह निश्चल होता है। जैनी तेल के खौलते हुए कड़ाहों में भस्म किये गये—उनके साथ अत्याचार किया गया ! किन्तु क्या हुआ ? उनका सिद्धान्त तो जैसा है वैसा ही चला आरहा है। इन अन्याचार करने वालों में ही से ऐसे लोग बहुधा ऐसे निकलते रहते हैं जो संशय और विपर्य के वशीभूत रहते हैं और रातदिन बक २ झक २ करते

हुए वादविवाद में पड़े रहते हैं और उनके निश्चय को दृढ़ता प्राप्त नहीं होती !

जहां सत्य नहीं होता, वहां ही रागद्वेष, ऊंचा नीचा और परस्पर विरोध होता है। इसी का नाम संसार है। और जब जीवका सम्बन्ध अजीव के साथ गहरा होता है तब ही इनको सूझती है। नहीं तो कोई क्यों ऐसा करने लगा था !

जिनका यह कथन है कि व्यौहार बिना झूँठ के नहीं चलता वह भूलमें पड़े हुए हैं। सच्ची बात यह है कि व्यौहार भी सच के बिना नही चलता। यह समझलो कि कोई वस्तु है तब तो उसका व्यौहार किया जायगा। यह 'है पन' ही सत्य है, जिस पर व्यौहार निर्भर है।

सत्य जिसके हृदय में गड़ जाता है, फिर वह उखड़ नहीं सकता। शरीर चाहे रहे वा न रहे इसका भी विचार जाता रहता है और मनुष्य सत्य के लिए सब कुछ खोने को उद्यत होजाता है।

सत्य को आने दो ! फिर लोभ, मोह, अहङ्कार आदि इस तरह भाग निकलते हैं जैसे गधे के सिर से सींग ! एक सत्य के ग्रहण कर लेने से उस के अनुयायी गुण आप आजाते हैं। और झूंठ चला जाता है।

सत्यमेव जयति सत्य की जय होती है। कभी २ मनुष्य सत्य के समझाने बुझाने के अभिप्राय से रोचक और भयानक

बातें भी कह देता है। जो सर्वाङ्ग से झूठे नहीं होते, उन में सार रहता है। और यह सार सच होता है।

सत्य ही सच्चा तप है। मनुष्य कुछ न करे। सच बोलने का अभ्यास करले। फिर वह तपस्वी बन जायगा और जो उसकी कामना है, सब पूर्ण होकर रहेगी। कबीर जी का कथन है:—

> साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
> जाके हृदय साच है ताके हृदय आप॥
> सत्यभाव का चोलना पहर 'कबीरा' नाच।
> तन मन तापर वारियों जो कोई बोले साच॥

उदाहरणों पर नज़र डालिए। (१) झूठ में दुःख और सच में सुख है। दो स्त्री पुरुष किसी घर में रहते थे। दोनों सच्चे थे और परस्पर प्रेम पालते हुए खुशी थे। सरल स्वभाव वाले। एक दूसरे से कोई बात छुपाता नहीं था। पडोसियों ने चाहा कि उनमें अनबन करदें। वह परिश्रम करके भी ऐसा नहीं कर सके। और न उनके सुखमें कोई बाधा डाल सके। अन्त में लज्जित होकर उन्होंने एक ठगनी स्त्री से कहा कि यदि तू इनमें अनबन करादे तो हम तुझे पचास रुपये देंगे। उसने स्वीकार किया आप तो स्त्री के पीछे पडी और एक पुरुष को उसके पति के पीछे लगाया। और यह दोनों के बनावटी मित्र बने।

एक दिन कुटनी ने स्त्री से कहा-तेरे पुरुष का शरीर लून

(नमक) से बना है।" उसने नहीं माना-हँसती रही। दिन प्रति दिन कहते सुनते रहने से उसके मनमें आया कि एक दिन पुरुष की देह को चाट कर निश्चय कर लेना चाहिये कि अथवा यह स्त्री सच कहती है या झूठ कहती है।

उधर मित्र पुरुष ने पति से कहना आरम्भ किया कि तुम्हारी स्त्री डाइन है। रात को तुम्हारा रक्त चूसती है। वह भी विश्वास नहीं करता था हँस कर टाल देता था। झूठ को कौन ग्रहण करे।

एक दिन रात के साथ सोते वक्त स्त्री ने पुरुष के शरीर को चाटा। वह जाग उठा। और यह कहते हुए भागा कि "तू डाइन है" और उसके पास जाने से रुक गया। इस तरह झूठ का परिणाम दोनों के लिए दुःख का कारण हुआ।

उनकी दशा शोचनीय थी। अन्तमें एक मित्र ने भंडा फोड़ दिया। तब दोनों मिले। एक ने दूसरे से क्षमा माँगी और फिर यह व्रत धारण किया कि "किसी की झूठी बात पर विश्वास न करेंगे।" और तब से वह सुखी रहने लगे।

(२) सच बोलना ही सत्य ग्रहण करना नहीं है, किन्तु सत्य का रूप बन जाना सत्य है। द्रोणाचार्य कौरवों के गुरु थे। जब वह उनके शिक्षक बनाये गए, सबको संस्कृत में यह पाठ पढ़ाया-"सत्यम् ब्रूयात्-प्रेमब्रूयात्। माब्रूयात् सत्यम्

अप्रिय।" अर्थात् सच बोलो और प्यारा सच बोलो। जो सच प्यारा नहीं है, वह न बोलो।

दूसरे दिन सब राजकुमारों ने इसे याद कर लिया। युधिष्ठिर से पूछा गया, उन्हों ने कहा-"मुझे याद नहीं हुआ। और,, राजकुमार तो नये २ श्लोक याद करने लगे। युधिष्ठिर ने नये सबक लेने से इन्कार कर दिया। दो सप्ताह बीत गए। द्रोणाचार्य ने कहा-"तुझ में स्मरणशक्ति नहीं है और तू इन राजकुमारों से कम समझ है। इन्हों ने तो एक दिन में घोंट लिया और तू इन राजकुमारों से पीछे रह गया।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया-"भगवन! श्लोक तो मुझे भी याद हो गया है, किन्तु जब तक मैं सत्य और प्रिय सत्य और न बोलने लगूँ तब तक उससे लाभ क्या है? मैं प्रिय सत्य बोलने का अभ्यास कर रहा हूँ, जब इसमें पूरा उतरूंगा तब आप से दूसरा श्लोक सीखूंगा।" द्रोणाचार्य की आंखें खुलीं और यह भविष्यवाणी कही कि "युधिष्ठिर आयु पाकर बड़ा धर्मात्मा होगा।" और अन्त में धर्मराज की पदवी उसने पाई।

(३) सत्य की मूर्त बन जाओ, तब उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। स्वामी रामकृष्ण परमहंस की बात है। वह जन्म सिद्ध पुरुष थे। एक दिन एक स्त्री अपने लड़के को उनके पास लाई और उलहना देने लगीः-"स्वामी जी! यह लड़का गुड़ बहुत खाता है, इससे रोगी रहता है। मेरा कहना नहीं मानता

आप शिक्षा दीजिए कि यह गुड़ न खावे।" स्वामी जी ने कहा "आजसे दस दिन बाद इस लड़के को लाना। मैं समझा दूंगा फिर यह गुड़ न खायगा।" वह दसवें दिन उसे लाई। स्वामी जी ने बालक से इतना ही कहा कि "बेटे, अब गुड़ न खाना।" उसने उत्तर दिया —"आप कहते हैं तो मैं आजसे गुड़ को हाथ तक न लगाऊँगा।" स्त्री चकित होकर पूछने लगी कि "यही बात पहले दिन क्यों न कहदी। दस दिन यौंही अकारथ गए स्वामीजी ने हंसकर कहा—"माई सुन, पहले मैं आप गुड़ खाया करता था। उस दिन मेरे पास गुड़ भी रक्खा हुआ था। यदि मैं इसे कहता तो यह न मानता। मैंने दश दिन तक गुड़ नहीं खाया। इस लिए यह मेरे वचन को मान गया।

दोहे—"कातिक मास करेल फूला, चढा नीम की डार।
कड़वाई थी बीज में, अति कड़वा व्यौहार ॥ १ ॥
कथा कथन की बात है सुनासुनी की बात।
गुनवन्ता कोई क्यो बने, बिना गुनी की बात ॥ २ ॥
कथकथ कर सब मर गये, कथनी के व्यौहार।
बिन करणी वह बह गये, बूडे काली धार ॥ ३ ॥
साचा है तो साच बन, साचा हो दिखलाय।
जब तक साचा ना बने, साच झूठ हुय जाय ॥ ४ ॥
साचा हृदय विमल तन मुख से साची बात।
ऐसे को साचा कहा साच गहे तब हाथ ॥ ५ ॥
करनी करे तो निकट है, कथनी कथे तो दूर।
रहनी रहे तो रूप है, रहनी में भरपूर ॥ ६ ॥

जीवन रहनी का सुफल, बिन करनी नहीं जिव ।
करनी कर रहनी रहे, वही जीव है शिव ॥ ७ ॥
मूरत रहे पखान में, यह जाने सब कोय ।
पाथर को जो गढ़े, कैसे परगट होय ॥ ८ ॥
साचा बन सत क जल तब साचा दीदार ।
कथनी में करतब रहे, तब हो सहजे सुधार ॥ ९ ॥
साच साच सब कोई कहे, साचा मिला न एक ।
साचा करनी सहित है, धारे चित विवेक ॥ १० ॥
साच जो मन में धंस गया, खोजा सतगुरु ज्ञान ।
निज स्वरूप का दर्श कर, पाया पद निर्वाण ॥ ११ ॥

———o———

[११]

शौच
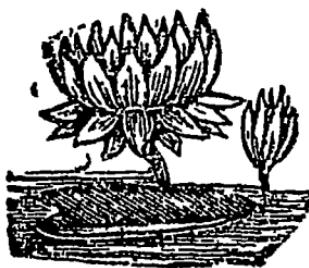
शौच संस्कृत 'शुचि' (शुद्धि) से निकला है। इस का अर्थ शुद्धि ही है. और शुद्धि का तात्पर्य विशेष शुद्ध भावना से है। शुद्धि और सब बातों के समान तीन तरह की है। व्यौहार की शुद्धि, प्रतिमाणिक शुद्धि और पारमार्थिक शुद्धि। और इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। व्यौहार और परमार्थ उस समय तक शुद्ध नहीं होते जब तक प्रति भाव में शुद्धि न हो। प्रतिभाव विचार ख्याल और भावको कहते हैं और यह सत-संग स्वाध्याय एवं सुशिक्षा से प्राप्त होता है। मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न होता है, जैसे समाज में रहता है, जैसी संगत होती है और जैसी शिक्षा पाता है अथवा उस के ईर्द गिर्द जैसी घटनायें हुआ करती हैं वैसे ही उस के विचार भी होते हैं। यह बनाई हुई बात है। साथ ही उस का आहार भी बहुत कुछ अपना प्रभाव रखता है जो जैसा अन्न खाता है उस का मन वैसा बनता है। और जब मन जैसा बन गया उस में विचार भी वैसे उत्पन्न होते हैं। इस अभिप्राय से जैन धर्म ने खाने पीने के विषय पर भी बहुत कुछ दृष्टि रक्खी है। जो पयाज् लहसुन या गन्डे खाता है वह तामसिक और तामसिक बुद्धिवाला होगा। जो मांस मदिरा का आहार

करता है या भयानक और भय प्रगट करने वाले व्यौहार करेगा। मिरच का अधिक खानेवाला चिड़चिड़ा होगा इत्यादि! ऐसे ही वस्त्र स्थल और रहने के घरों का भी बहुत कुछ प्रभाव मन पर पड़ता है। यह सब बातें सोचने और समझने की हैं और धर्म की पहली सीढ़ी पर चढ़ने के लिए इन पर विचारने और इनके साधन करने की मुख्यता है।

शौच धर्म का विचारनीय अङ्ग है। जब तक हृदय शुद्ध न होगा वह शुद्धाचरण शुद्धचारित्र और शुद्ध आदर्श के ग्रहण करने योग्य न होगा! बाहरी भी शारीरिक शुद्धि काफी नहीं है। मानसिक शुद्धि भी बड़ी जरूरत है। मानसिक शुद्धि के बिना शरीरिक शुद्धि लाख हो, वह इतनी उपयोगी न सिद्ध होगी। आहार, व्यौहार, आचार इत्यादि सब को युक्ति के साथ करना चाहिए। शरीरिक शुद्धि बहुधा बनावटी होती है और वह मनुष्य की गिरावट का कारण बनती है। बगुला उजले परों वाला होता है, परन्तु वह मछली खाता है और हिंसक है। क्या संसार में बगुले भगत बनाना है? इन से तो यूँ ही भरा पड़ा है। जिस धर्म के लिए तीर्थंकरों ने इतनी २ कठिनाइयां सही हैं वह साधारण रीति से तो प्राप्त नहीं होता! उस के लिये तप करना पड़ता है। तब जाकर वह कहीं हाथ आता है।

यदि हृदय शुद्ध नहीं है, तो कोई क्या किसी के उत्तम उप-

देश को ग्रहण करेगा ? और क्या उस से लाभ उठायेगा ? शुद्ध और अच्छे पदार्थ शुद्ध और अच्छे पात्र ही मे रक्खे जाते हैं। अशुद्ध पात्र में शुद्ध वस्तु कोई कैसे रक्खेगा और कैसे वह उस मे रक्खा जा सकेगा ?

हृदय शुद्ध और निर्मल हो तब वह आप किसी उत्तम पुरुष के समीपवर्ती होने से उस के भाव को सुख और प्रसन्नतापूर्वक ले सकेगा और वह उस में भली प्रकार प्रति-विम्बित हो अनुभव उत्तेजन करेगा। और शुभ जीवन के बनाने में सफलता होगी। ऐसा न होगा तो फिर उल्टा पांसा पड़ेगा

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, हर मनुष्य पर अपना प्रभाव डालते हैं। पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, और आकाश भी यही काम करते हैं। रोगी शरीर के लिए यह हानिकारक होते हैं और अरोगी शरीर के लिये यह उपयोगी होते हैं। शौचवाला मनुष्य अरोगी कहलाता है। उस में केवल शुद्ध भावना ही प्रतिविम्बित होगी। अशुद्ध भावना की ओर उसकी दृष्टि तक न पड़ेगी, फिर वह उन के भाव को कैसे ग्रहण करेगा ?

शौच के लिये सयम्क् आजीविका, सम्यक् आहार और सम्यक् आचरण भी आवश्यक हैं। गृहस्थियों के लिये कम से कम इन बातों को स्मरण में रखना चाहिए। नहीं तो शौच का लक्षण उस में न प्रगट होगा। जिस का हृदय अन्धा है, उसमें शुभ इच्छा, शुभ चिन्तवन, और शुभ वासनाओं की लेशमात्र

परखा नहीं पड़ती! उदाहरणों में देखिये, यह भाव कैसा स्पष्ट है!

(१) आगस्टस सीज़र (क़ैसर रोम) के यहां चीनी चित्रकार बहुत नोकर थे, जिन्हें बड़ी २ तनख्वाहें दी जातीं थी। एक दिन उस राजा ने अपने मन्त्रियों से पूछा कि "क्या मेरे देश के आदमी चित्रकार नही हो सकते?" किसी ने इस का सन्तोषजनक उत्तर नही दिया। कारण यह था कि उस देश में चित्रकारी की ओर किसी की रुचि नहीं थी। इस का पूरा अभाव हुआ। आगस्टस सीज़र को बड़ा दुःख हुआ। उस ने इश्तहार दिया कि "जो कोई रोमी चीनियों का चित्र-में मुकाबिला करेगा उसे अच्छा इनाम मिलेगा।" किसी मनुष्य ने इस पर साहस नहीं किया। उस देश में दो चार सूफी रहते थे, वह राजा के पास, आ कर कहने लगे-हम चित्रकारी मे चीनियों का मुक़ावला करेंगे।" राजाने सामने की दो दीवारों पर चीनी और रोमी दोनों से अपने २ चित्र खींचने की आज्ञादी। बीच में केवल एक परदा पड़ा हुआ था दोनों काम में लगे। चीनियो ने राजा से बहुत रुपये रंग वग़ै-रह खरीदने की ग़र्ज़ से लिए। सूफ़ियों ने न एक पैसा मांगा, न राजा ने दिया। काम करते २ दो महीने गुज़र गए। राजा ने चीनियों को बुला कर पूछा-"क्या काम बन गया?" यह बोले, "बन गया।" सूफ़ियों से भी यही प्रश्न किया गया।

उन्हों ने भी यही उत्तर दे दिया: "जो करना था उसी समय कर चुके, जब चीनी कर चुके थे।" सारे मंत्री, राज्याधिकारी, सेठ साहुकार राजा के साथ थे। पहले चीनियों के चित्र देखे। यह महा विचित्र थे। देख कर सब दंग रह गए। फिर सूफियों से कहा-"तुम भी अपना करतब दिखादो।" यह बोले परदा "उठा दीजिए।" परदा उठाया गया। इनका करतब देखकर वह और भी भौचक होगए। जो कुछ चीनियों ने बनाया था वह यहां भी था। विशेष बात यह थी कि सूफियों का काम अधिक भड़कीला था। यह बात किसी की समझ में नहीं आई। देर तक सोचते रहे। अन्तमें दोनों को बराबर पारितोषिक दिया। राजा जानता था कि सूफी ईश्वरभक्त और गुरुभक्त होते हैं-पूछा-"क्या तुमने जादू किया कि चीनियों जैसे चित्र बनाए और उनसे अधिक भड़कीले?" सूफी बोले-"हमने चित्रचित्र कुछ नहीं बनाए। सिर्फ दीवार को मांझा दे देकर शुद्ध किया है-वह दर्पण जैसी निर्मल और साफ होगई है। चीनियों के चित्रों का प्रतिबिम्ब दीवार पर पड़ा है, उसी का यह प्रतिबिम्बित है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" यह शौच है और उसी का नाम शुद्धि है।

परिश्रम तो तीर्थङ्करों ने किया है। जैनी यदि हृदयको मांझा देकर उन्हीं की भक्ति करें तो उनके सद्भाव आप इनके शुद्ध हृदय में प्रगट हो आयेंगे। और इनका काम सहजमें

बनेगा। जैनी गुरु मते हैं। तीर्थङ्कर गुरु थे। जो उनकी राह चलेगा उनके आशीर्वाद से अपना जन्म बना लेगा और अजीव के बन्धन से छूट कर जीव के सच्चे, शुद्ध और निर्मल स्वरूप को पा जायगा। यह जैनधर्म का सिद्धान्त है। मूल तत्व तो केवल इतना ही है। भक्ति करने से आपही आप उसके सारे अंग आ जाते हैं। किन्तु शौच का होना आवश्यक है। जब तक शौच न होगा सच्ची भक्ति कदापि न हो सकेगी।

'नहाये धोये क्या भया, तनका मैल न जाय।
मीन सदा जलमें रहे, धोये बास न जाय ॥१॥ -(कबीर)

तनकी शुद्धि कीजिये, काया बरतन धोय।
नहाये धोये सुख लीजिये, मैल देहका खोय ॥२॥
मन की शुद्धि कीजिये, काम क्रोध मद त्याग।
अहंकार और लोभ से, जान बूझकर भाग ॥३॥
जिह्वाकी शुद्धि बने, मीठी वाणी बोल।
मुखसे वचन निकालिये, हिये तराजू तोल ॥४॥
धर्म अहिंसा पालिये, यह है सबका मूल।
तन मन की शुद्धि बने हिंसा कीजे न भूल ॥५॥
निन्दा कबहु न कीजिये, निन्दा अघकी खान।
निंदा से उपजे सभी, कलह क्लेश महान् ॥६॥
मन दर्पण के बीच में, परनिन्दा की छार
निर्मलता पलमें गई, भरगई धूल विकार ॥७॥
निन्दक हो हिंसक भया, हिंसा करे उपाव।
जिह्वा की तलवार से, करे कलेजे घाव ॥८
गुरु के रंग रँगायकर, रह सतगुर के संग।
गाढा रंग मजीठ का, चढ़े न दूजा रंग

———o———

[१२]

संयम

संयम दो संस्कृत धातु 'सम (बिल्कुल) और 'यम (रोक थाम) से बना है। संपूर्ण रोक थाम का नाम संयम है। और इस रोकथाम का मन्तव्य इन्द्रियो और मन का रोकना-और उनको अपने वशमें कर रखना है।

मनुष्य क्यो बहकता है ? इन्द्रियों के बहकने से । जिसे जिस इन्द्री की चाट पड़ गई है, वह उसे अपनी ओर खींच ले जाती है और गड्ढे मे लेजाकर गिरा देती है। उसका सारा धर्म कर्म धूल और मिट्टी में मिल जाता है ।

कौन कह सक्ता है कि प्राणी को कितने दिनो से किस इन्द्रिकी लत का अभ्यास हुआ है। अभ्यास दूसरी प्रकृति व स्वभाव बनजाता है और वह बेवश हो रहता है। लाख उसे कोई समझाये, वह अपने किये से नही रुक सका ! जन्म जन्मान्तर की लत बुरी होती है। परंतु जैसी किसी ने यह लत डाली है. वैसेही यदि उसका उल्टा अभ्यास करने लग जाय तो फिर यह धीरे २ बदलने लग जाती है और यह कुछ का कुछ हो जाता है।

और इन इन्द्रियो मे एक बात और होती है । यह कभी तृप्त नहीं होती । जितना मनुष्य इनके तृप्त करने का उद्योग

करता है उतना ही यह बढती जाती है । और शान्त नहीं होती । और मनुष्य निर्बल होकर उनके काबू में रखने के असमर्थ हो जाता है। इसलिये महात्माओं ने इनके विरोध ही का उपदेश दिया है।

ज्ञान इन्द्रियां पांच हे और पांचही कर्म इन्द्रियां हैं । इनके अपने २ विषय होते हैं और उनकी चाल उन्ही की ओर रहा करती है और वह रातदिन उन्हीं के भोगो की इच्छुक बनकर उन्हीं की चाह उठाती रहती हैं । आंख का विषय देखना कान का सुनना, नाक का सूंघना, और जिह्वा का स्वाद रस लेना और चर्मका छूना है । इन्द्रियां तो सबको होती हैं किन्तु जिसने जिस इन्द्री की विशेष कमाई करनी हे उसने उसे उतना ही बलवान बना लिया है । और उतना ही उसका प्रभाव उसके जीवन पर पड़ता है और जिसने पांचो को बलवान कर लिया है उसका तो कहना ही क्या है । वह रात दिन उन्हीं के पीछे लम्पट रहता है। जो दशा बाहरी इन्द्रियो की है वही आन्तर इन्द्रियों की है । आन्तर इन्द्रियां अंतःकरण कहलाती हैं । और वह चार-चित्त, मन बुद्धि और अहंकार कहलाती है। यह सब की सब सम्मिलित अवस्थायें मनकहलाती है। और इस मनका भी विषय है। और जेसे बाह्यइन्द्रियां विषय स्वादका भोग चाहती रहती है, वैसे ही यह मन भी विषयों का संकल्प उठाता हुआ, उन्हीं के रसले से बंध जाता है। बाहरी

इन्द्रियां तो वस्तुतः इतनी दुखदाई नहीं भी होती हैं, किन्तु यह मन ऐसे नाच नचाता रहता है कि कभी चैन नहीं लेने देता।

'मनके मारे वन गये, नव तज वस्ती माहिं।
कह 'कवीर' क्या कीजिये, यह मन बूझे नाहिं'॥

इस मनके विषय काम, क्रोध, लोभ मोह और अहंकार हैं। वाहर और अन्तर इन्द्रियों का मेल है। और वह एक दूसरे के साथ गुथी हुई हैं। वाहरी इन्द्रियो की जड़ अन्तर में है। अन्तर की रोक थाम से यह भी वश में आ जाती है। पर यह काम वहुत कठिन है। इस लिए रोकथाम का साधन बाहर ही से आरंभ होता है। वाहर संयम और निरोध चाहे जितना करो, जहाँ तक अन्तर की जडबनी रहेगी, वह उत्पात मचाता ही रहेगा। इस लिये दोनों की रोकथाम एक साथ करनी चाहिये। तव लाभ होगा।

इन्द्रियों के संयम को 'दम' और मनके संयम को 'शम' कहते है। इस संयम की आचार्यों ने नाना विधियां बताई है। उन सबका यहां लिखना कठिन और समय का निरर्थक खोना है। मुख्य उपदेश यह है कि "प्राणी हिंसा न करे।" और बस हिंसा की हानि सोच समझ लेने से फिर आप इन्द्रियो का निरोध होने लगता है। मन, वचन, काय से अहिंसक होना ही तीनों का निरोध कर लेना है। पर यह संभव कैसे है? इसका सरल साधन यह है कि व्यवहार और विचार को

चढ़ता चले। सत्संग और साधु सेवामें रहे आपही आप निरोध होना चलेगा। वैसे यदि कोई उनको छोड़ना चाहे तो वह असमर्थ रहेगा। सत्संग और सेवासे साधन सुगम होता है। संगत मे वैराग्य आता जाता है और इसके अभ्यास से फिर साधना कठिन नहीं होती। अभ्यास और वैराग्य से सब कुछ संभव है।

जैन धर्ममें संयम वर्णन विविध भांति से आया है, जिसे देखकर व सुनकर प्राणी घबरा जाता है। और उसे असंभव समझने लगता है। यहां तक कि फिर उसकी रुचि जाती रहती है। और वह जैनधर्म को महा कठिन मान लेता है। कठिन तो वह है, परन्तु साधन के सामने कठिनाई नहीं चलती एक काम किया, दूसरे की बारी आप आ जाती है जैनमत जहां तक मैंने विचारा है, सुगम भी है। क्योंकि प्राकृतिक है। प्राकृतिक प्रबन्ध में सुगमता रहती है। किन्तु जो आचार्य हुए वह एक पर एक संयम बढ़ाते ही चले गये बातें तो बहुत हैं और वह सच्ची भी हैं। किन्तु काममें सबकी सब एक साथ न आने के कारण वह पहाड़ विदित होने लगती है। और उनके सुनने से ही जी उकता और घबरा जाता है। सुगम साधन सत्पुरुषों का सत्संग है।

संगत ही सुख ऊपजे संगत ही दुख जाय।
संगत करे तो भलों की सब बिगड़ी बन जाय ॥१॥

नरकी संगत पाय कर, पशु करें नर--व्यवहार ।
साधु संगत जो नर करे, पावे उत्तम सार ॥ २॥
नौका संग लोहा तरे, देखो अपनी आख ।
काठ लोह में भेद है, भिन्न भिन्न निज साख ॥ ३ ॥
लोहा पडा जो अग्नि में, भया अग्नि का रंग ।
भस्म करे पल एक में, जो कोई करे प्रसंग ॥ ४ ॥
संगत के गुणकी कथा, वर्णत वर्णी न जाय ।
बाँस फाँस और मिश्री, एके भाव बिकाय ॥ ५ ॥

संगत का प्रभाव महा प्रभावशाली होता है । यह बहुत सुगम है । यह मुख्य है और सब गौण हैं इसे करलो और सब बातें तुममें आप आती जायंगी ।

सोचं समझ मन आपने, धार सुसंगत रंग ।
त्याग कुसङ्गत सर्वदा, ज्यों कुचली भुजंग ॥ १ ॥
त्याग कुसङ्गत शर्वदा, कर सत्सङ्गत नित्त ।
सत्सङ्गत सुख ऊपजे, निर्मल तन मन चित्त ॥ २ ॥
केला उगा जो बेर ढिग, निशदिन सहे क्लेश ।
तज कुसङ्ग कों जल्द तू, सुन गुरु का उपदेश ॥ ३ ॥
केला बेर के सङ्ग में, उरझ २ उरझाथ ।
व्यवहार प्रतिकूल जब, उरझ २ दुख पाय ॥४॥
सङ्गत साधन सार है, नियम और यम की खान ।
जो कोई सङ्गत करे, लहे परम कल्याण ॥ ५ ॥

सत्संगत में बहिरंग और अंतरंग संयम दोनों का पालन सहज रीति में हो जायगा ।

[१३]

तप

'तप' नाम तपने का है। तप कहते हैं, गर्मी पहुचाने को। जब किसी वस्तु को गर्मी पहुँचाई जाती है, तब वह पिघलती, नर्म होती और फैल जाती है। बिना तपके कभी कोई काम नहीं होता। यह जगत् का तत्व है और यहां जो कुछ तुम्हें दृष्टिगोचर हो रहा है, वह केवल तप मात्र का परिणाम है। इस तपके समझनेमें प्रायः सबने धोका खाया है। तप कहते हैं मनके गरम करने को, जब यह मन गर्म होगा तबही इसके अन्दर दूसरे प्रभाव पड़ेंगे। नहीं तो यह अकड़ा हुआ ठस का ठस बना रहेगा।

साधन तप है। विचार तप है। पठनपाठन, स्वाध्याय, संयम, नियम सब तप ही तप हैं। जब पदार्थको गर्मी पहुँचती है, तब ही उनका मेल और विछोह होता है। तपकी गर्मी से जब कोई वस्तु नर्म हो जाती है, तब ही उस पर दूसरे का संस्कार और चिन्ह प्रगट होता है। और प्रकार से यह सर्वदा असंभव है।

जीव-अजीव का मेल तप से हुआ है। यह तप का मेल अनादिकाल से है और जब यह एक दूसरे से पृथक् किये

जायेंगे, तबभी तपही से यह संभव होगा। हां, विछोह के लिये उल्टा तप करना पड़ेगा।

अजीवरूपी परिमाणु पहले ततावस्था में रहते हैं। फिर दिन पाकर उनमें ठंडक आती है। और फिर गर्मी और सर्दीका मेल होता है, तब इस मेल से सृष्टि होने लगती है। और उसका प्रवाह चल निकलता है। और फिर जब उल्टा तप होता है तब लय, प्रलय और संहार की बारी आती है। यह नियम है।

स्त्री पुरुष जब तपते हैं, तब वह मिलते हैं और मेल से संतति होती है। जीव जन्तु कीड़े-मकोड़े पशु-पक्षी वृक्ष इत्यादि सब इस नियम के आधीन हैं।

जन्म तपसे होता है। पालन पोषण तपसे होता है और मृत्यु भी तपसे आती है। इसी तरह जब जीव को अजीव के साथ नाता तोड़ने की सूझती है तब उसे तप करना पड़ता है। बिना तपके कुछ भी नहीं है। न होता है और न होसक्ता है।

तीर्थङ्कर तपके इस नियम को भलीभांति समझ गए और यही कारण है कि उसकी मुख्यता को प्रधानता दी है। अन्यथा कष्ट को सहना तप नहीं कहलाता। वह केवल एक प्राकृतिक नियम है, जिसका प्रवाह बराबर चला करता है और उस में सुगमता है। हां, उल्टी चाल चलने में कुछ संभवित कठिनाई होती है। यदि वह समझली जाय तो बहुत अंश तक अन-

समझी दूर तो सक्ती है। यहां पर बात का बतंगडा बनाया गया और एक हाथ ककडी का नौ हाथ बीज दिखाया गया। हम खुली आंखों से देखते हैं कि लडका जब बाढ़ छोड़ता है, तो तप करता हुआ आता है, बीज जब अंकुरित होते हैं तो उन्हें भी तपना पड़ता है।' इन बातों में क्या कठिनाई है? तीर्थङ्करों ने जो तप का उपदेश दिया होगा, वह भी ऐसा ही साधन है, जिसपर शब्दोंका आडम्बर खडा करके बहुत बड़ा स्थंभ बना दिया गया है। और जैनमत की इस तपकी कठिनाई को देखकर बुद्धदेव ने "मध्यमार्ग" के रूपमें उसका संशोधन करना चाहा और उसका नाम 'हीनयान' ही (छोटामार्ग) रक्खा। वह वास्तवमें कुछ न्यूनाधिक भेद रखते हुए जैन मार्ग की एक शाखा है। परंतु कालने उसपर भी आक्षेप किया। और समय पाकर वह भी कठिन मार्ग होगया और उसको 'महायान' (बडेमार्ग) का रूप धारण करना पडा। यह संसार की लीला है। जो आता है वह कठिन को महाकठिन करने को प्रयत्न करता है। और एक कडी उसमें और जोड़ जाता है। तीर्थङ्करों की क्या शिक्षा थी, उसका पता पाना भी सरल नहीं है। केवल सुगमता की ओर दृष्टि करने की आवश्यक्ता है। सोच विचार करते रहने से अमली जीवन और करनी करने वाले आचार्य उसे अबभी समझ सक्ते हैं।

तप का अभिप्राय केवल चिन्तन और विचारमात्र है।

यह मन की वृत्तियों का निरोध और उसकी रोक थाम है। जो ऐसा करता है वह तपस्वी है। इससे आगे बढ़ना उसके आशय को हानि पहुंचाना है। सारी आयु तप के आडम्बर मे व्यतित हो जायगी और सार हाथ न आवेगा।

तपके लक्षण सुनोः—

(१) प्रायश्चित—दोष होने पर, शुद्धि करना

(२) विनय—आत्मदेव और गुरु धर्म आदि का आदर करना।

(३) वैयावृत्य—साधु सेवा और सत्संग है।

(४) स्वाध्याय—शास्त्र पाठ।

(५) व्युत्सर्ग—शरीर आदि का ममत्व त्याग-इत्यादि

(६) ध्यान—एकाग्र चिन्ता।

यह सब क्या है? केवल विचार और चिन्तनमार्ग! यह तप के अन्तरंग साधन है। इनमे कौनसी कठिनाई है? बहिरंग साधन को भी सुनलोः—

(१) अनशन—उपवास करना।

(२) अनूदर—स्वास्थ्यरक्षा के लिए भूकसे कम खाना।

(३) व्रतपरिसख्यान—भोजन करते समय उचित वासनाओं को चित्त मे दिये रहना. जिसमे मन उसे स्वीकार करे और गुरु का ध्यान रहे। मन भोजन ही से बनता है।

(४) रसपरित्याग—चिकना चुपड़ा खाना न खाना।

(५) विविक्त शैय्यासन—एकान्त में पृथ्वी पर लेटना जिसमें शरीर आरोग्य रहे और पृथ्वी की आकर्षणशक्ति उसमें प्रवेश कर सके। व मन विकारी न बने।

(६) कायक्लेश—शरीर को ऐसा बनाना कि उसमें सहनशक्ति आजाये। आरामतलब न होने पावे, इत्यादि इत्यादि।

दोहे:—

तप कर जप कर भजन कर जोगजुगति चित लाय।
उन तपके प्रभाव से, जन्म सुफल हो जाय॥१॥
जब लग ममता देह, संग, तब लग तप नहि होय
माता त्यागे देह का, तपस्वी कहिये सोय २
तन की चिता पर चढ़ चले, धार सत्यकी टेक।
योग अग्नि घट प्रगट हो, सहित विचार विवेक ३
तपसी के मन इष्ट है, इष्ट से परम स्नेह।
इष्ट भाव जब चित रमा, फिर नहिं देह न गेह॥ ४
साधु-सती और सूरमा, तीनों तप के रूप
तीनों में साहस रहे, पडे न भ्रम के कूप॥ ५

———o———

[१४]

त्याग

संस्कृत में त्याग तज (छोड़ने) से निकला है। इसका यौगिक अर्थ दान है। विशेषतर रूढ़ि ही अर्थ लिया जाता है।

मनुष्य क्या छोड़ेगा ? और क्या ग्रहण करेगा ? क्या पदार्थ ग्रहण योग्य हैं और कौनसी वस्तु त्याग योग्य है ? इस पर शास्त्रकारो ने बहुत विचार लड़ाया है। और पोथे के पोथे रंग डाले है। किन्तु बात थोड़ीसी है। उसे यूँही बतङ्गड़ा बनाकर साधारण मनुष्यों को धोकेमें डाल दिया है। जो पदार्थ त्याग के योग्य है, वह केवल मन का ममत्व है और इसलिए त्याग का तात्पर्य मानसिक भाव से है। और प्रकार समझने से शब्दों का आडम्बर तो रचा जाता है। किन्तु यथार्थ की समझ नहीं आती। जिसने ममत्वको तजा, उसने सबको तज दिया और उसका पूर्ण त्याग हो गया। और जिसने उसे नहीं छोड़ा, उसने कुछ भी नहीं छोडा। जिसने जीव को अजीव से बांध रक्खा है। वह सिर्फ मेरे तेरे पने की कल्पित रस्सी है। यह छूट जाय और बस, मनुष्य मुक्त है। कबीर साहब कहते हैं:—

> "मोर तोर की जेवरी, बट बाँध संसार
> दास कबीरा क्यों बंधे, जाके नाम अधार ।

मोर- तोर निशि दिन करे, मोर तोर है ध ।
ममता तज कर मुक्त हो क्यों है हिये रा बंध ॥

त्याग के विषय में एक कवि ने ऐसा कहा है :—

त्याग त्याग का रूप में सब कुछ डाला त्याग ।
लोक, पर लोक और ऐस तज, किया त्याग का त्याग

यह त्याग की सीमा है। पर यह भी तो मानसिक भाव है। इसके सिवा और वह क्या है ? और यदि किसी का ऐसा त्याग हो, तो वह निस्सन्देह सराहनीय है और उसने त्याग की हद करदी । अब आगे त्याग की कोई मंजिल नही रही ।

किन्तु यूं किसी से त्याग होता नहीं । यह बडी भारी बात है । तब त्याग का दूसरा यौगिक अर्थ सोचा गया और उसे दान दक्षिणा का वस्त्र पहिनाया गया । यह भी त्याग ही है। दान ऐसा हो कि दायां हाथ दे और बाये हाथ को खबर तक न होने पावे । इसे निष्काम दान कहते हैं । और इसके करते रहने से सच्चा त्याग आप ही आप आ जाता है। परतु इसमें भी ममत्व और अहंकार भाव आकर घुस गया और दान को लोगों ने मान बड़ाई और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का साधन बनालिया । और जो त्याग का मन्तव्य था उसका लोप हो गया । फिर भी दान देना अच्छा ही है । क्योंकि इससे अंतःकरण की शुद्धि हो जाती है ।

दान नाना प्रकार का है। अन्नदान, वस्त्रदान विद्यादान,

ज्ञान दान, औषधि दान, अभय दान इत्यादि लाखों ही दान हैं। अभयदान की मुख्यता है। ज्ञानदान सर्वोपरि है, क्योंकि इसी से मुक्ति मिलती है। ऐसा दान हर एक नहीं कर सक्ता। इसके लिये बड़ी सामर्थ्य और बड़ी योग्यता चाहिए। अन्न दान से थोड़े समय के लिए तृप्ति होती है। औषधिदान से भी रोग कुछ दिनों के लिए हट जाता है। किन्तु ज्ञान दान से नित्य निवृत्ति हो जाती है। हां सम्यक् ज्ञान हो, जो समदर्शी बनादे। वाचकज्ञान को ज्ञान नहीं कहते, वह शास्त्रों की युक्तियों की तोता रटंत रीति है, जो भ्रम से छुटकारा नहीं दिला सक्ता।

इन सब में गुरु भक्ति, इष्ट वा आदर्श भक्ति के रूप मे जो दान दिया जाता है वह सबसे अत्यन्त महाकठिन व्रत है। और कोई ऐसा ही बहुत बड़ा दानशील सूरमा होगा जो इस में पूरा हो। यह संतों का मार्ग है संत ही ऐसा विचित्र वीर हैं जो अपने आप को,दूसरों की भलाई के निमित् अर्पण कर देता है:—

> तरवर सरवर संतजन, चौथे बरसे मेह।
> परमारथ के कारणे, चारों धारे देह ॥१॥
> तरवर फले न आपको, नदी न पीवे नीर।
> परमारथ के कारण संतन धरा शरीर ॥२॥

दूसरों का उपकार करते हुए अपने जीवन का किञ्चित् विचार न रखना, यह संसार में किसी२ प्राणी के भाग में

आता है। हमने किसी जगह वर्द्धमान जी की सहन शक्ति का उदाहरण दिया है। यही बहुत है, त्याग और दान दोनों की यह झलकती हुई दिव्य प्रतिमा है—

दोहे —

त्याग त्याग दे त्याग, छोड़ मोर और तोर।
यही त्याग की वस्तु है, इसका ओर न छोर ॥१॥
घर छोड़ा तो क्या हुआ, देह संग नित नेह।
यह तो तेरे साथ है, देह का त्याग-स्नेह ॥२॥
देह तजा, अच्छा किया, यह अजीव का रूप।
ममता त्याग का त्याग दे, जागे भरम का कूप ॥३॥
लक्ष्मी तजी तो क्या हुआ, मान तजा नहि जाय।
राजा भिखारी दीन को, मान रहा लिपटाय ॥४॥
मानतजा अच्छा किया, सम हुये मान अपमान।
अप तजने को क्या रहा! जीते जी निर्वाण ॥५॥
दे दे दे कुछ तो भला, दान धर्म व्यौहार।
दान शुद्ध हृदय करे, सूझे आगम विचार ॥६॥
सब जग नाता देह का, तब जग दे कुछ दान।
प्रेम प्यार सन्मान दे, दान की महिमा जान ॥७॥
जीव जन्तु सब दया कर, दया भाव नित पाल।
दया दान उत्तम महा, दिया जिया करे निहाल ॥८॥
मन बानी और कर्म से, हुआ अहिंसक जो।
वह दानी है जगत में, सब का प्यारा सो ॥९॥

सोच अहिंसा-धर्म को, परमधर्म जग बीच।
स्वार्थवश हिंसा करे, वह नर सब में नीच॥ १०॥
अभयदान का दान दे, अभयभाव चित्त राख।
यही जैन मत सार है, यह जैनी की साख॥ ११॥
अभयदान से जीत ले, मन इन्द्री और देह।
जीव जो जीते अजीव को, उत्तम मत सो लेख॥ १२॥
देह देह कुछ देह तू, जब लग तेरी देह।
चित्तसे कर उपकार नित, जीवन का फल येह॥ १३॥

———०———
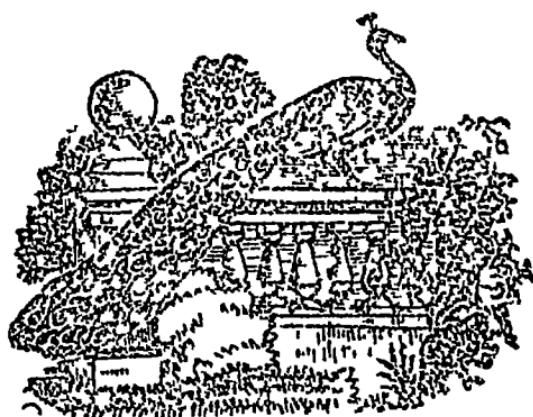
आकिञ्चन्य

आकिञ्चिन शब्द संस्कृत धातु 'आ' (नहीं) और 'किञ्चन्' (कुछ) से बना है। कुछ न लेना ही आकिञ्चन् है। अथवा 'आ' (नहीं), किन्' (क्या), और 'चन्' (कुछ) अर्थात् क्या कुछ नहीं, यह आकिञ्चन् है।

मन में कोई किसी बात की इच्छा न हो, किसी से कुछ न ले, किसी से किसी पदार्थ की आशा न रक्खे, यह सच्चे जैनी (विजय करने वाले) का लक्षण है। परिग्रह के भाव का मनसे मेट देना उत्तम आकिञ्चन् है। कबीर सा० का कथनहैः—

> चाह मिटी चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह।
> ताको कुछ नहीं चाहिए, वह जग शाहन्शाह॥

निर्द्वन्द, अपने आपे में रहना, आप अकेला रहना, किसी जन, पदार्थ, विषय, भोग, सामग्री, विचार, भाव इत्यादि से असंग होजाना, सच्चा अपरिग्रह है। यह जैनी यती के व्यौहार का आदर्श है। सब से नगा होजाना, नंगा होकर रहना और नगे बरतना, इसी को सच्चा आकिञ्चन् कहते हैं। जीव नङ्गा हो जाय, असंग हो रहे, आप अपना सहारा, आसरा और कूटस्थवत आधार और अधिष्ठान् होकर रहे, यही जैन मत का सिद्धान्त है। वेदान्त यदि कपोल कल्पित युक्तियों को

छोड़दे तो उनमें जैनधर्म पूर्ण रीति से झलकता हुआ प्रतीत होने लगे। वह यौंही मिथ्यात्व मे फंसकर अनुयायियों को सामान्यवाद, विशेषवाद, ईश्वरवाद, मायावाद, परिणाम-वाद, विवर्तवाद इत्यादि के भ्रम में डालकर झगड़ालू और पक्षपाती बना देते हैं। वह वाचिकज्ञानी बनकर दंगलबाज़ पहलवानों की तरह दांवपेच खेलने लग जाते हैं। अन्ध अभिमानी हो जाते हैं। अपने को अच्छा और दूसरों को बुरा समझने लगते हैं। निर्ग्रंथ नहीं होते और जड़चेतन की ग्रन्थि-नहीं खुलती। जब दोनों प्रकार वह निर्ग्रंथ हो जायें, तो फिर सचाई का साक्षात्कार हो जाये। पुस्तक चाहे कोई भी हो, मनुष्यों ही ने रची है। किसी पुस्तक ने मनुष्य को नहीं रचा। सांख्यमत का आधार रखते हुए और नहीं— वह क्यों मिथ्या विचार में अपनी आयु को नष्ट करते है। सचाई को सचाई की रीति से क्यों ग्रहण नही करते? वाद विवाद मे रात दिन पड़े रहने से लाभ क्या होता है?

ना सुख विद्या के पढ़े, ना सुख वाद विवाद।
साधु सुखी 'सहजू' कहे लागी शून्य समाध ॥ १ ॥
'सहजू' ठन्डी लोह री, छिन पानी छिन आग।
तैसे सुखदुख जगत के, 'सहजू' तू तज भाग ॥ २ ॥

इसी का नाम आकिञ्चन है। शेष कहने सुनने और दिखावे की बातें है। जो आकिञ्चन्य धर्म का अनुयायी है वह किसी से क्या लेगा और उसे क्या लेना है?

(१) वेदान्त एक जीव मानता है। जैनी संसार दृष्टि से अनेक जीव मानते हैं। यह दोनों में पहला मतभेद है। वेदान्त अपने सिद्धान्त के इसकी पुष्टि में लगकर युक्ति प्रति-युक्ति से काम लेता है। जैनी इसे निरर्थक श्रम समझता है। किन्तु उसका भी तो आदर्श वही है। वही अपने एक जीवको एक समझता हुआ उसे अजीव से असग करने के जतन में लगा रहता है। और जब वह पूर्ण रीति से असग हो जाता है, तब उसीका सिद्ध कहते हैं, जो सर्वश्रपद है।

(२) वेदान्त जगत् को मिथ्या कहता है। जैनी उस मिथ्या वेदान्त की दृष्टि से नहीं कहता वह केवल जगत् से असंग होने का जतन करता है। जो भ्रम अथवा मिथ्या को मिथ्या और भ्रम मानता हुआ उसके लपेट में पड़ा रहता है, वह मूल आशय को न समझता हुआ, भ्रम की उपासना में लगा रहता है। और जो बातों के लड्डू पकाया करता है, वह उसके भाव को दृढ़ करता है। उसे उससे छुटकारा कब होगा? यहां आकिञ्चन्य करने की आवश्यता है। जीव अकेला और असग और नगा हो जाय, यह उसका करतव है। उसके अतिरिक्त जैनी और चाहता क्या है? यह वेदान्त और जैन-धर्ममें दूसरा मत भेद है। सोचने वाले सोचें तो उन्हें भी पता लग जाय कि पक्षपात के सिवा और क्या भेद है?

(३) वेदान्त कहता है, ईश्वर मिथ्या, जगत् मिथ्या,

वेद मिथ्या हैं। कहने को तो वह ऐसा कहता ही है, किन्तु वह इनके झगड़ों को नहीं छोड़ता। फिर इनके सिद्ध करने से उसे लाभ क्या मिलता है? रगड़ों-झगड़ों से पक्षपात तो बढ़ता है और वह कहीं का कहीं जा पड़ता है। जैनी केवल अपने करतव्य का पालन करता हुआ, करनी और साधन में लगकर अकिञ्चन्य द्वारा उसका साक्षात् कर लेता है। यह तीसरा मतभेद है, जो जैन धर्म और वेदान्त में है।

(४) ब्रह्मपद को सब कुछ मानकर उसे आदर्श बना लेता है और उसीके इर्दगिर्द चक्कर लगाता हुआ उसे पूर्ण अवस्था समझता है। इसमें भी कोई हानि नहीं थी, किन्तु यहां भी वह ब्रह्मपद को हव्वा ही समझ रखता है। और वह एक हव्वा (Phantom) होकर उसे कहीं का नहीं रखता। अजी काम में लगो। जीवका अजीव से असंग करलो। इतना ही करना है। बातों में क्या धरा हुआ है।

ब्रह्म दो संस्कृत धातु, 'ब्रह' (बढ़ने) और 'म' (मनन-सोचने) से निकला है। जीव और अजीव की सम्मिलित अवस्था का नाम ब्रह्म है। जब यह कहा जाता है कि जीव ब्रह्म एक है-जब जीव ब्रह्म की एक संज्ञा है तो फिर झगड़ा किस बात का रहा? अब क्या उलझन रहा? जगत् मिथ्या ही सही! जिसे जैनी वेदान्त की तरह अनहुआ नहीं कहता। किन्तु वह भी तो उसी जीवको मुख्य समझ रहा है। और

जीवको शुद्ध और निर्मल कर लेना है, जो आकिञ्चन्य से संभव है। काम करने का है कहने या बातों में पढ़कर लड़ने का नहीं है। यह चौथा भेद है जो जैनमत और वेदान्त में है।

(५) वेदान्त और जैनी दोनो ही निर्वाण को समझते मानते हैं। निर्वाण फूंक कर बुझा देने को कहते हैं। जैनियों का मन्तव्य तो स्पष्ट है। जीवसे अजीवपने को फूंककर बुझा देना और जीवको असंग कर लेना है। वेदान्ती, जब अपने सिद्धान्त अनुसार जगत्को अनहुआ और मिथ्या मानता है, तो वह क्या फूंकेगा ? और क्या फूंककर बुझावेगा ? उसे तो कुछ करना ही नहीं। हां, और कुछ चाहे वह करे यह न करे। बातें बनाता फिरता है जो उसे उसके सिद्धान्त से गिरा देता है। यह पांचवां भेद है जो जैन और वेदान्त में है।

आकिञ्चन् का अर्थ स्पष्ट रीति से बता दिया गया। व्यौहार में अपरिग्रह को आकिञ्चन कहते हैं। यह भी सही है। अब दोहे सुनोः—

"भीख माग उद्यम करे, सो किञ्चित् नहीं साध।
भीखमें उपजे कल्पना, चाहे अधिक उपाध ॥ १ ॥
पूरा निंदक ना मिला, बना भिखारी साध।
साध, इसे न तुम कहो, उसको राग असाध ॥ २ ॥

पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी सीख ।
स्वांग जती का पहनकर, घर घर मांगी भीख ॥ ३ ॥ (कबीर सा०)
"गृही का टुकड़ा बुरा, नौ नौ अंगुल दाँत ।
भजन करे तो उबरे, नाही तो खींचे आँत ॥ ४ ॥
'कबीर' पर अतीत का बहुत करे उपकार ।
जो आलस वस खाये नित, बूड़े कालीधार ॥ ५ ॥
अन्न अन्न में भेद है, अन्न अन्न में भाव ।
उसी अन्न को ग्रहण कर जो प्रीति का बने उपाय ॥६॥
भिख मना तो दगा बना, यह नहीं जती का रूप ।
करे कमाई, और फिर, पड़े न भव के कूप ॥ ७ ॥

———o———

[१६]
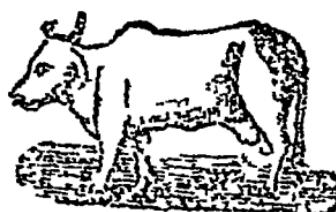
ब्रह्मचर्य

ब्रह्म में चर्या करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। आज कल स्त्री त्याग का नाम ब्रह्मचर्य रक्खा गया है, वह ठीक है। किन्तु वह इतना ही है। ब्रह्मशब्द के कोष में अनेक यौगिक अर्थ हैं। जैसे तप, ज्ञान, शास्त्र, पवित्र, विद्या इत्यादि। इन सब सम्मिलित भावों, कर्तव्यों और स्वाध्यायों में रह कर तपस्वी की रीति पालन करना ब्रह्मचारी होना है। इन से वीर्य क्षीण नहीं होता किन्तु उसे पुष्टि मिलती है और उसकी पुष्टि से साहस की वृद्धि होती है। और यह साहस इष्टपद की प्राप्ति में सहायक होता है। कहा गया है:—

> काग चेष्टा बकुल ध्यान स्वाननिद्रा तथैव च।
> अल्पाहारी स्त्रीत्यागी विद्यार्थी पंचलक्षणम्॥

कौव्वे जैसी चेष्टा, बगले जैसा ध्यान कुत्ते जैसी नींद हो, खाना थोड़ा खाये, स्त्री से सम्बन्ध न रक्खे, विद्यार्थी अथवा ज्ञान के साधन करने वालों के यही पांच लक्षण हैं और इनको मुख्य समझना चाहिए।

ब्रह्म आत्मा है। ब्रह्म और आत्मा जीव ही है। जीव के सिवा ब्रह्म और आत्मा कोई नहीं है। जैनधर्म इसे बड़े जोर के साथ कहता है। और लोग या तो ब्रह्म और जीव में भेद मानते

है या अगर वेदान्तियों की तरह कुछ समझ जाते हैं तो बहुत देर पीछे वे हाथ घुमा कर नाकका पकड़ते और ब्रह्मजीव की एकता को सिद्ध करने पर लग जाते हैं। इस एकता के मानने मनवाने पर इतना श्रम क्यों किया जाता है? पहिले ही कह दिया जाय कि जीव ब्रह्म है, और ब्रह्मजीव है तो इसकी आवश्यकता ही नहीं रहती।

जो अजीव के भावको मेटता हुआ केवल जीव भाव की शुद्धि की ओर दृष्टि रखता है उसी का नाम ब्रह्मचारी और उस क्रिया का नाम ब्रह्मचर्य है।

जो इस चर्या में सबसे अधिक हानिकारक है वह स्त्रीजाति का संग है। स्त्री के साथ रहने से ब्रह्मचर्य व्रतके भंग होने का क्षण प्रति क्षण डर रहता है। और काम अङ्ग के प्रबल होने की संभावना रहती है। इस लिये स्त्री त्याग का नाम ब्रह्मचर्य ही होगया। कबीर साहब कहते हैं:—

"पानी देख शुचि ऊपजे, नार देख के काम।
माया देख दुख ऊपजे, साधु देख के राम॥

स्त्रीसंग ब्रह्मचारी के लिए महा भयानक है। इससे बच कर रहने में ही भलाई है। कौन ऐसा योद्धा, सूरमा, यती, तपस्वी है जो कभी इस पर विजय पा सका है? कबीर जी फ़रमाते हैं:—

पर नारी पैनी छुरी, मत कोई लगो अंग ।
दश मस्तक रावण गया, पर नारी के संग ॥ २ ॥

नारी में औगुण महा, समझ त्याग दे भाग ।
विश्वामित्र का समझ ले, भया सहज तप भंग ॥ ३ ॥
नारी की झाया पड़त अन्धे होत भुजंग ।
'कबीर' उनकी कौन गति जो नित नारी के संग ॥ ४ ॥
नारी निरख न देखिये, निरख न कीजे दौर ।
देखे ही ते विष चढ़ै, मन आवे कुछ और ॥ ५ ॥
नारि नशावे तीन गुण, पास जो नर के होय ।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठ सके न कोय ॥ ६ ॥

उदाहरण देखिये कि, व्यास जी का एक चेला स्त्रियों को भागवत की कथा सुनाया करता था । व्यास ने कई मरतबा समझाया कि स्त्रियों में न जाया कर नहीं तो मारा जायगा । और पराक्रमक्षीण हो जायगा । इस ने हरबार यही उत्तर दिया कि मैं निर्बल मनुष्य नहीं हूँ जो स्त्रियों का प्रभाव मुझ पर पड़े । व्यास जी समझाते २ थक गए । एक दिन क्या हुआ, जिस कुटी में चेला रहता था, कोई स्त्री आई । और कुटी के समीप बैठ गई । पानी बरस रहा था । बरसात का महीना था । इसे बुरा लगा । बोला-"चली जा-यहां तेरा क्या काम है ?" उस ने रोकर और हाथ जोड कर कहा "पानी थम जाने पर मैं चली आऊँगी-पानी में कैसे जाऊं ?"यह चुप हो रहा । फिर स्त्री कुटी के भीतर दो चार गज चली आई । यह

फिर क्रुद्ध हुआ। वह बोली—"मैं तो मनुष्य हूँ पानी में कुत्ते भी बाहर नहीं रहते। ज़रा पानी रुके फिर चली जाऊँगी।' यह चुप हुआ। तृष्ण नेत्रों से देखता ही रहा। वह फिर आगे बढ़ी। उसने तीसरी बार फिर रोका। उसने फिर रोकर क्षमा मांगी। खिसकते २ वह इस के सन्निकट आ गई। चेले से न रहा गया, युवा था उस पर हाथ डाल बैठा। स्त्री ने लपककर गालों पर दो तमाचे जड़े। "मूर्ख! नहीं मानता था। स्त्री प्रसंग से बच कर नहीं रहता था। देखा यूं स्त्रियों का पुरुष पर प्रभाव पड़ता है।" वह लज्जित हुआ, क्योंकि स्त्री के बनावटी भेष में व्यास जी आप उस के चिताने के लिये आये थे।

> रोय गाय हँस खेल कर, हनत सबन के प्राण।
> कह 'कबीर' इस घात को समझत सन्त सुजान॥

उ० (२) ब्रह्मा तप कर रहे थे। एक स्त्री उन के समीप आई। इन्हें काम उत्पन्न हुआ। बड़े ज्ञानी ध्यानी वेदाभिमानी थे। नहीं संभल सके, मारे गये! अपने पद से पतित हो गए। तब से यह कहावत चली आती है :—

"त्रियाचरित्रम् पुरुषस्य भाग्यम्, ब्रह्मा न जानाति कुतो मनुष्यः।"

उ० (३) इन्द्र अहिल्या की सुन्दरता पर मोहित हुआ और लज्जित होना पड़ा। राम सीता के मोह में उन्मत्त हो-

गए। शृङ्गी ऋषि की एक सुन्दर स्त्री ने दुर्गति कराई। दशरथ ने स्त्री के कारण राम को वनवास दिया। भीष्म के बाप सन्तनु मत्स्योदरी पर रीझे और भीष्म ने ब्रह्मचर्य का घोर व्रत धारण किया। पाराशर ऋषि इसी मत्स्योदरी के प्रेम में लिप्त हुए, व्यास की उससे उत्पत्ति हुई। विश्वामित्र को मैनका ने छला। और उस से शकुन्तला उत्पन्न हुई। इत्यादि उदाहरण है।

आखों काजल देय कर, गाढ़े बाधे केश।
हाथों मँहदी लाय कर, बाघिन खाया देश॥

सुर नर मुनि तपसी यती, गले काम की फाँस।
जप तप संयम त्याग कर, चित से भये उदास॥ १॥
नारी रसरी भरम की, मुसक बँधावें लोग।
जोगी नित न्यारा रहे, तब कुछ साधे योग॥ २॥
क्रोधी लोभी तर गए, नाम गुरु का पाय।
कामी नर कैसे तिरे, लोक परलोक नशाय॥ ३॥
नारी नरक की खान है, गिरे भ्रमवश जोय।
नर से वह नरकी बने, बुद्धि विवेक सब खोय॥ ४॥
कहता हूं कह जात हूँ, समझ कीजिए काम।
जो नारी के वश पड़ा, उसे कहाँ विश्राम॥ ५॥
मै था तो सब में चतुर नर, समझ हुआ अनजान।
नारी के वश में पड़ा, भूल गया सब ज्ञान॥ ६॥

नरी नदी अथाह जल गिरा जो उबरा नाहिं ।
ऐसा समझ विचार कर, मत ले उस की थाह ॥ ७ ॥
निज अनुभव की बात है, पोथी लिखी न जान ।
नारी संग जो परिहरे, तब पावे सत्ज्ञान ॥ ८ ॥
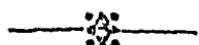
अन्तिम विचार

मैंने बुढ़ापे में जैनमत की पुस्तकों का अवलोकन किया। मुझ से कहा गया- जैनधर्म के दशलक्षण धर्म पर अपनी सम्मति प्रगट करो। जो मेरे जी में आया कह सुनाया। निष्पक्षी होकर अपने भाव को प्रगट कर दिया। इस में न कहीं बनावट है, न लगाव लपेट है-जो बात है स्पष्ट है।

क्या कहूँ मुझे न अवकाश है-न अब शरीर लिखने के योग्य है इस के अतिरिक्त मैं रात दिन राधास्वामी सत्संग के काम में लगा रहता हूँ। धाम, मंदिर, संस्कृत पाठशाला, हाईस्कूल बाजार इत्यादि के प्रबन्ध में रहता हूं। नहीं तो मैं उपनिषदों और वेदों तक में दिखा देता कि उन में कहां तक जैन मत का भाव लिया गया है। मुझे अब जाकर प्रतीत होने लगा है कि जैनमत बहुत प्राचीन है। निर्ग्रंथ होने से उस की शिक्षा 'इल्म सीना' और रहस्य रूप में चली आई है।

यह स्मरण रहे। मैं जैनी नहीं हूँ न उस समुदाय से मुझे कभी सम्बन्ध था और न अब है। परन्तु स्वाध्याय करने पर विदित हो गया कि संस्कृत शब्दों के यदि रूढ़ि अर्थ से सिद्ध किया जाय तो जैनमत के सिद्धान्त हिन्दुओं और बौद्धों के ग्रंथों में बहुतायत के साथ मिलेंगे।

जो कुछ मैने लिखा है वह इस छोटे ग्रंथ के लिए कम नही है। आशा है जो इसे पढ़ेंगे निष्पक्ष होकर जैनधर्म की निन्दा न करेंगे। जैसी अब तक लोग अनसमझी से करते चले आ रहे हैं। मैं जैनियों और हिन्दुओं में कोई भेद नहीं मानता। लिखने का तात्पर्य है कि दोनों दल के अनुयायी परस्पर प्रेम परतीत से रहे और मतमतान्तर के वाद विवाद में न पड़कर हिन्दू जाति की उन्नति में लगें।